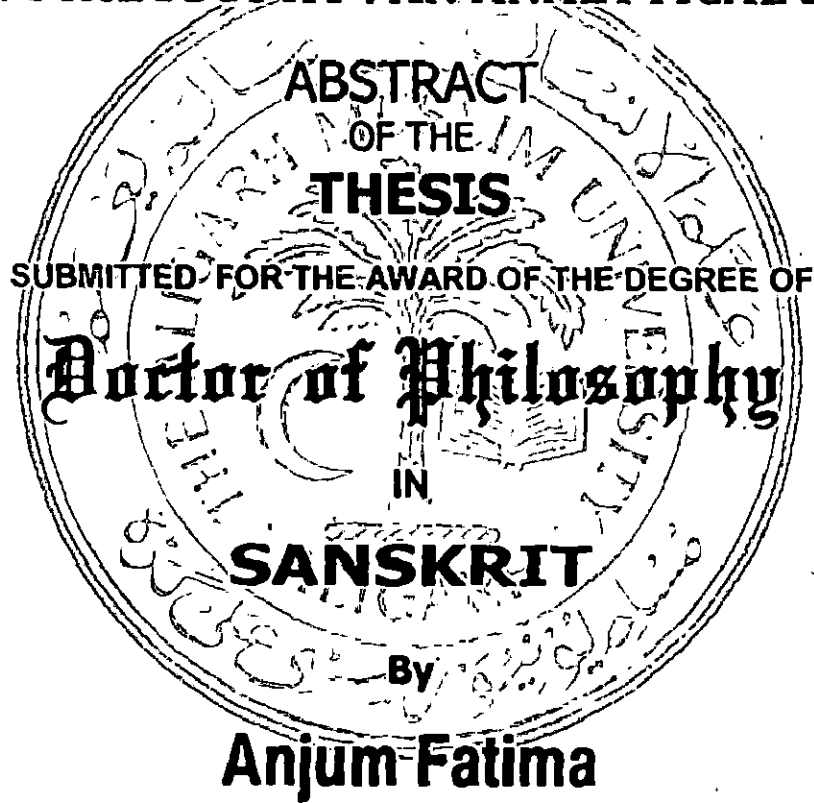




षड्दर्शन में मन की अवधारणा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

**(THE CONCEPT OF MIND IN SIX SYSTEMS OF
INDIAN PHILOSOPHY : AN ANALYTICAL STUDY)**



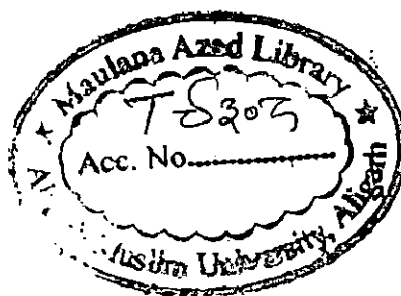
Under the Supervision of

Dr. HIMANSHU SHEKHAR ACHARYA
(Senior Lecturer)

DEPARTMENT OF SANSKRIT
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH (INDIA)

2010

26 JUN 2015



शोध प्रबन्ध-सार

भारतीय दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें तत्त्व निरूपण के अन्तर्गत मनस्-तत्त्व का अपना विशिष्ट स्थान है। मन अनन्त शक्ति और उत्साह का स्रोत है। मानव को कर्म करने की प्रेरणा इसी की शक्ति से प्राप्त होती है। मनन और चिन्तन इसका व्यापार है। कल्पनाओं व शक्तियों का अनन्त भण्डार होने के कारण इसे शतपथ ब्राह्मण में समुद्र की संज्ञा दी गई है—‘मनो वै समुद्रः’। अन्यत्र इसे एक महानदी मानते हुए वाणी को नहर कहा गया है—‘तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्’।

ज्ञानेन्द्रियों का समस्त व्यापार मन के द्वारा संचालित होता है। मन का आध्यात्मिक महत्त्व सर्वोपरि है। उपनिषदों में कहा गया है—“मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः” अर्थात् मन ही मनुष्य के बन्धन व मोक्ष का कारण है। इसीलिये वेदों में मन के शुभ-संकल्प वाला होने की कामना की गई है।

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने ‘मन’ के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु अपनी युक्तियाँ प्रदान की हैं। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में मन की सत्ता को स्वीकार किया गया है। षड्दर्शन के विभिन्न ग्रन्थों में मनः सम्बन्धीय विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। परन्तु सभी दार्शनिक मतों का एकत्र संग्रह तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन का अभाव अभी भी परिलक्षित होता है। षड्दर्शन में प्रतिपादित मनस्-तत्त्व का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है। अतः शोध प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है, जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

प्रथम अध्याय : वैदिक साहित्य में मन की अवधारणा

इस अध्याय के अन्तर्गत वेदों से लेकर उपनिषद् साहित्य तक मन के अस्तित्व व स्वरूप की सिद्धि के विषय में विवेचन किया गया है। मानव शरीर के अन्दर विद्यमान मनस् के चिन्तन, मनन तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण शक्ति के सम्बन्ध में वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में मनस्-तत्त्व को एक श्रेष्ठ तत्त्व माना गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि परमात्मा के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई और चक्षु से सूर्य की। इसमें 'मन' को दैवी बनाने का आदेश दिया गया है। यजुर्वेद में मन के शिवसंकल्प होने की प्रार्थना की गई है। मन के शिवसंकल्प होने पर ही व्यक्ति ध्यानस्थ, कार्यस्थ या योगस्थ हो सकता है। अथर्ववेद में एकचित्त अथवा एक भावयुक्त होकर कर्मों को करने पर बल दिया गया है।

मन के सम्बन्ध में ब्राह्मण-ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। शपथ-ब्राह्मण में मन को यजुर्वेद की संज्ञा दी गई है। ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों में मन के अनेक नाम का उल्लेख है जो मन के कार्यों के भी सूचक हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी ही शक्तियों की सूची दी गई है, लेकिन साथ यह भी कहा गया है कि यह सब मन ही है। अन्तःकरण की संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति को ही मन कहा गया है। विषयों में आसक्त मन बन्धन तथा विषयों से पराङ्मुख मन मोक्ष का कारण होता है। अतः ज्ञान के द्वारा मन को वश में करने पर बल दिया गया है। प्रथम अध्याय में इन सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय : सांख्य-योगदर्शन में मन की अवधारणा

सांख्य-योगदर्शन में मन को त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार माना गया है। सांख्य में मन पद का तथा योग में चित्त पद का उल्लेख हुआ है। बुद्धि, चित्त तथा

मन तीनों में एकजुटता बताई गई है। चित्त की पाँच भूमियाँ कही गयी हैं—क्षिप्त, मूर्द,

विक्षिप्त, एकग्र एवं निरुद्ध। चित्त की जिन वृत्तियों का निरोध योग का लक्ष्य है वह

विलस्र एवं अविलस्र के भेद से पाँच प्रकार की हैं। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त

वृत्तियों का निरोध किया जाता है। उनके निरोध से ही समाधि की अवस्था तक पहुँचा

जा सकता है। संप्रज्ञात समाधि को चार भागों में विभक्त किया गया है—वितर्कानुगत,

विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं आस्मिन्नानुगत। भवप्रत्यय एवं उपाय प्रत्यय के भेद से

असंप्रज्ञात समाधि के दो भेद माने गये हैं। उपाय प्रत्यय के द्वारा ही योगी अव्यवहित

रूप से कैवल्य प्राप्त कर पाता है। तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इन तीनों क्रियाओं

को सामूहिक रूप से क्रियायोग कहा जाता है। चित्तवृत्तिनिरोध में क्रियायोग के महत्त्व

पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। चित्त में संस्कार रूप में विद्यमान क्लेश के

पाँच भेद बताये गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। प्रसूत, तनु,

विच्छिन्न तथा उदार ये क्लेशों की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं। चित्तिस्थित अविद्या

के नाश के लिये अष्टांग योग—यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं

समाधि के विषय में विवेचना की गई है।

तृतीय अध्याय : न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन की अवधारणा

इस अध्याय में न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के विद्वानों के मतानुसार मन के स्वरूप

व अस्तित्व के विषय में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। अन्तर्ग्रह के मत में

‘सुख-दुःख आदि की उपलब्धि के साधन, इन्द्रिय को मन कहते हैं।

आत्मा और इन्द्रिय का तथा इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान

होने न होने पर कोई कारण होना चाहिये, वह कारण ही ‘मन’ है। इसके अतिरिक्त

आत्मा जब सुखादि का साक्षात्कार करता है, तो वहाँ कार्य और कर्ता के अतिरिक्त

अन्य करण (मुख्य साधन) का होना भी आवश्यक है, वह साधन मन को बताया गया है। अन्य द्रव्य की अपेक्षा मन की एक विशेषता यह है कि वह अणु परिमाण वाला है। मन की एकता व गति के विषय में भी न्याय-वैशेषिक दर्शन में चर्चा हुई है। न्यायदर्शन के मत में बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष पाँच बाह्य इन्द्रियों से होता है, किन्तु ज्ञान आत्मादि का प्रत्यक्ष पाँच बाह्य इन्द्रियों से होता है। अन्त में मन द्रव्य तथा नित्य है इस विषय की विवेचना की गई है।

चतुर्थ अध्याय : पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में मन की अवधारणा

इस अध्याय के अन्तर्गत पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के मतानुसार मन के अस्तित्व व स्वरूप सम्बन्धी चर्चा की गई है। मन को अणिष्ठतम बताया गया है। मनुष्य जो कुछ खाता है, वह जठराग्नि द्वारा पचाये जाने पर तीन भागों में विभक्त होता है। खाये हुए का स्थूलतम भाग मल, मध्यम भाग अन्न रसादि क्रम से परिणत होकर मांस तथा सूक्ष्मतम अंश मन बन जाता है।

मन को दैव चक्षु कहा गया है। आत्मा मन रूपी दिव्यचक्षु के द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है। मन को भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों का द्रष्टा कहा गया है। मन की विविध शक्तियों के विषय में विश्लेषण किया गया है।

मन स्वप्न द्रष्टा है तथा स्वप्न की सृजना मन से होती है। सुषुप्ति में मन श्रम की निवृत्ति के लिये आत्मा का आश्रय ग्रहण करता है। सुषुप्ति में मन पुरीतत् की ओर जाता है।

मीमांसकों ने मन को इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया है, परन्तु वेदान्तियों में मतभेद है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैतवेदान्तानुयायीयों ने मन को इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया है। दाक्षिणात्य शैवदर्शन में मन की गणना इन्द्रियों से पृथक् की गई है। इस अध्याय में इन सभी विषयों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

पञ्चम अध्याय : उपसंहार

इस अध्याय में मनः सम्बन्धी सभी मतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन से निष्पन्न निष्कर्षों को एकत्र उपस्थापित किया गया है। षड्दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार मन का ब्रह्मसाक्षात्कार या मोक्ष में योगदान के विषय पर भी प्रकाश डाला गया है।

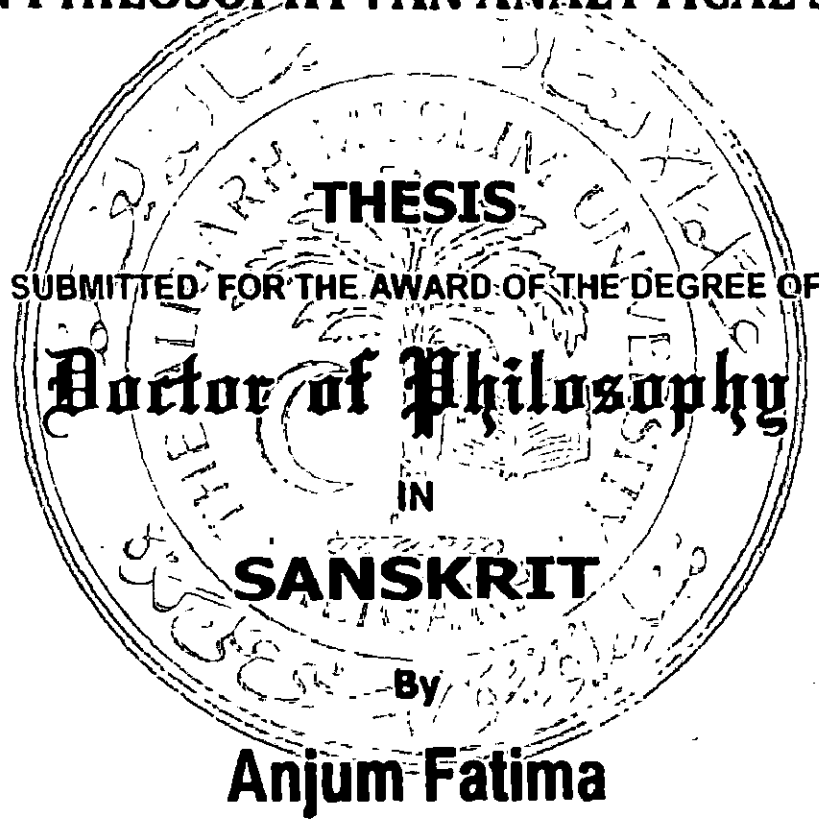
अंजुम फातिमा
शोधच्छात्रा

अंजुम फातिमा



षड्दर्शन में मन की अवधारणा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

(THE CONCEPT OF MIND IN SIX SYSTEMS OF
INDIAN PHILOSOPHY: AN ANALYTICAL STUDY)



Forwarded
802aur
26.10.10
[Signature]
[Signature]

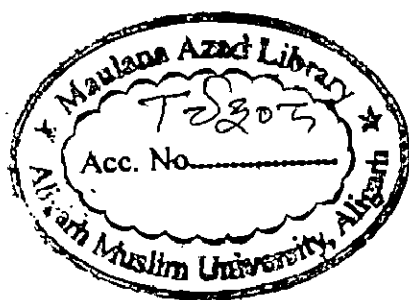
Under the Supervision of

Dr. HIMANSHU SHEKHAR ACHARYA
(Senior Lecturer)

DEPARTMENT OF SANSKRIT
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH (INDIA)

2010

6



Dr. H.S. Acharya

Senior Lecturer

DEPARTMENT OF SANSKRIT

ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY

ALIGARH-202002 (U.P.) INDIA



RESIDENCE:

104, Silver Apartment,

Near Govila Gas Agency,

Ramghat Road, Aligarh-202001

Mob.: 09457279827

Dated .26..10..2010.

Certificate

This is to certify that the thesis titled "**The Concept Of Mind In Six Systems Of Indian Philosophy : An Analytical Study**" presented by **Ms. Anjum Fatima** for the award of Ph.D. Degree in Sanskrit is an original research work. It is the result of her own efforts and it has been completed under my supervision.

The candidate has fulfilled all the conditions laid down in the academic ordinance of the Aligarh Muslim University, Aligarh for the above purpose.

H. S. Acharya
Dr. H.S. Acharya
Supervisor

Dedicated
to
My father

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन	I-II
आभारोक्ति	I-II
संक्षेप-ग्रन्थसूची	1-3
प्रथम अध्याय : वैदिक साहित्य में मन की अवधारणा	1-47

ऋग्वेद में मन, ऋग्वेद में 'मन' को दैवी बनाने का आदेश, ऋग्वेद में 'मन' शब्द का उल्लेख, मन का उत्पादक बीज 'काम', मन को स्थिर करने की प्रेरणा, देव शून्य मन की निन्दा, उत्तम मन के लिये प्रार्थना, मन दूरगामी है, वेगवान् 'मन', ऋग्वेद में एक समान मन की कामना, यजुर्वेद में मन, मन ही चन्द्रमा है, मन ही देवों का वाहन अश्व है, मन संकल्पों—विकल्पों का प्रभव स्थान है, सामवेद में मन, सामवेद में 'मन' शब्द का उल्लेख, अथर्ववेद में मन, ब्राह्मण ग्रन्थों में मन, उपनिषदों में मन।

द्वितीय अध्याय : सांख्य-योगदर्शन में मन की अवधारणा	48-98
--	-------

त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार 'मन', सांख्य में अनुल्लिखित 'चित्त' योग में उल्लिखित, बुद्धि, चित्त तथा मन की एकरूपता, चित्त की भूमियाँ या अवस्थाएँ—क्षिप्तावस्था, मूढावस्था, विक्षिप्तावस्था, एकाग्रावस्था, चित्त के भेद—प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील, स्थितिशील, चित्त की वृत्तियाँ—प्रमाण वृत्ति, विपर्यय वृत्ति, विकल्प वृत्ति, निद्रा वृत्ति, स्मृति वृत्ति, चित्तवृत्तियों का निरोध, चित्तवृत्ति निरोध के उपाय—अभ्यास, वैराग्य, वैराग्य की चार अवस्थाएँ—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा, वैराग्य के भेद, चित्तवृत्तिनिरोध से समाधि—संप्रज्ञात समाधि, संप्रज्ञात समाधि के भेद—वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि, विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि, आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि, अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि, असंप्रज्ञात समाधि, असंप्रज्ञात समाधि के भेद—भवप्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि, उपायप्रत्यय

असंप्रज्ञात समाधि, उपाय प्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि के पाँच उपाय, क्रियायोग का चित्रवृत्तिनिरोध में महत्त्व—तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, चित्तवृत्तिनिरोध में क्रियायोग के अनुष्ठान का प्रयोजन, चित्त में विद्यमान क्लेश त्रिविध दुःख का कारण है, क्लेश के भेद—अविद्या, अस्मिता एवं राग, द्वेष, अभिनिवेश, क्लेशों की अवस्थाएँ—प्रसुप्तावस्था, तनु अवस्था, विच्छिन्नावस्था, उदारावस्था, चित्तस्थित अविद्या का नाश के लिये अष्टांग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

तृतीय अध्याय : न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन की अवधारणा 99-112

मन के अस्तित्व की सिद्धि, मन अणु परिमाण वाला है, सुषुप्ति, मन इन्द्रिय है, मन आत्मा से भिन्न है, मन की एकता एवं गति, मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः, मन द्रव्य तथा नित्य है।

चतुर्थ अध्याय : पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में मन की अवधारणा 113-137

मन्वानो मन, मन का अस्तित्व, मन का स्वरूप, योऽणिष्ठस्तन्मनः, अन्नमयं हि सोम्य मनः, मन का अधिष्ठान हृदय है, मन (आत्मा का) दिव्य नेत्र है, मन त्रिकालदर्शी है, मन की विविध शक्तियाँ, मनसो मनः, मन का रेतस् 'काम', संकल्पो वाव मनसो भूयात्, चित्तं वाव संकल्पाद् भूयः, ध्यानं वाव चित्ताद् भूयः, विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयः, बलं वाव विज्ञानाद् भूयः, अन्नं वाव बलाद्भूयः, मन स्वप्न द्रष्टा है, स्वप्न मन की सृजना है, मन और सुषुप्ति, सुषुप्ति में श्रम निवृत्ति, सुषुप्ति में मन पुरीतत् की ओर जाता है, प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः, मनो ह वाव यजमान, मन का इन्द्रियत्व, मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

पंचम अध्याय : उपसंहार 138-146

षड्दर्शन में मन, का स्वरूप, षड्दर्शन में मन की सिद्धि, मन के गुण, मन का परिमाण, मन का इन्द्रियत्व, षड्दर्शन में मन का ब्रह्म साक्षात्कार या मोक्ष में योगदान।

प्राक्कथन

विश्व वाङ्मय में वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ माने गये हैं। वेदों में अनेक प्रकार के मूलभूत तथ्य एवं प्रमाणिक तत्त्वों का विशद विवेचन प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में 'मनस्' तत्त्व को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्राचीन वैदिक संहिताओं में मनस्-तत्त्व सम्बन्धी अनेक स्तुतियाँ हैं। यजुर्वेद में मन को दूर जाने वाला एवं चंचल कहा गया है। इसकी शुभसंकल्प के लिये प्रार्थना की गई है। उपनिषद् साहित्य में मनस्-तत्त्व को इन्द्रियों में श्रेष्ठ माना गया है। मन से सभी प्रकार के भूतों की उत्पत्ति मानी गई है। इसे ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन माना गया है। भारतीय दर्शन के आचार्यों ने भी मन के विषय में विस्तृत चर्चा की है। सभी ने मन की चंचलता तथा इसमें निहित अनन्त शक्तियों को स्वीकार किया है।

आधुनिक काल में अनेक विद्वानों ने मन की सत्ता को स्वीकार करके उस पर प्रशंसनीय गवेषणात्मक कार्य किये परन्तु यह गवेषणा सम्पूर्ण नहीं है, जैसे-प्रीति कांजीलाल ने अपने अप्रकाशित शोध प्रबन्ध "Concept of Mind in the Sāṃkhya yoga System : An analytical Study" में मन के अस्तित्व को स्वीकार करके सांख्य-योग दर्शन के विभिन्न विद्वानों के मतों पर दृष्टिपात किया है। सदानन्द भादुडी ने अपने लेख "The Nyaya-Vaiśeṣika Conception of Mind" में न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार मनस् तत्त्व पर अनुसंधानात्मक कार्य किया। दिनेश चन्द्र शास्त्री ने "The Concept of Mind in ancient India" विषय पर शोध-पत्र लिखा है। के०सी० वरदाचारी ने "मनस् और बुद्धि", के०पी० एस० चौधरी ने "The import of mind in Indian thought" विषय पर शोध-पत्र द्वारा मन की सत्ता को सिद्ध किया है। द्वितीय विश्व वेदविज्ञान सम्मेलन में नाहिद आबिदी, एल०नरेन्द्र कुमार पाण्डेय, एन०पी०राय आदि विद्वानों ने अपने शोध-पत्र क्रमशः "Psychological Analysis of Mind in Vedic literature", "Conception

of Peace and Purity of Mind in vedic Mantras", "Concept of Manas and Ātmā Verses Energy" में मनस् तत्त्व पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयास किया है। ४४ वें अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलन में डॉ० (श्रीमती) सुधा गुप्ता ने अपने शोध-पत्र "वैदिक वाङ्मय में मनस् तत्त्व", डॉ० विकास शुक्ला ने "आस्तिक दर्शनों में मन-विषयक अवधारणा", मीनाक्षी राय ने अपने लेख "अद्वैतवेदान्त दर्शन की दृष्टि में मन की उत्पत्ति कथा", डॉ० सुमित्रा वी० भट्ट ने अपने शोध-पत्र "Concept of Mind in Sanskrit" के द्वारा मन से सम्बन्धित विषयों का उपस्थापन किया है। इस प्रकार से अनेक अधुनातन विद्वानों ने अपने-अपने लेखों के द्वारा पृथक्-पृथक् दार्शनिक परम्परा के मतों का उजागर किया है। परन्तु सभी दार्शनिक परम्पराओं के मतों का एकत्र संग्रह एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन का अभाव अभी भी परिलक्षित होता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रयास किया गया है। शोध-प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में वैदिक साहित्य के अन्तर्गत मन के स्वरूप का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में सांख्य-योग दर्शन, तृतीय अध्याय में न्याय-वैशेषिक दर्शन, चतुर्थ अध्याय में पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शन में मन की अवधारणा तथा पञ्चम अध्याय में उपसंहार शीर्षक के अन्तर्गत मनः सम्बन्धी सभी मतों का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके शोध प्रबन्ध के निष्कर्षों को उपस्थापित किया गया है। इस शोध-प्रबन्ध में मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। परन्तु आवश्यकता के अनुसार तुलनात्मक, व्याख्यात्मक एवं समीक्षात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है।

आभारोक्ति

इस शोधकार्य के पूर्ण होने पर सर्वप्रथम मैं अल्लाह पाक (ईश्वर) का शुक्र अदा करती हूँ जिनकी कृपा दृष्टि के बिना यह शोधकार्य सम्भव नहीं था।

मेरी शोध यात्रा का आरम्भ व समाप्ति डॉ० हिमांशु शेखर आचार्य, वरिष्ठ प्रवक्ता, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के कुशल निर्देशन में सम्पन्न हुई है। शीर्षक चयन से लेकर शोध परिसमाप्ति तक आपके अमूल्य सुझावों से लाभान्वित होती रही। उनके कुशल निर्देशन एवं परीक्षण से ही मेरा शोधकार्य सुचारु रूप से सम्पादित हो सका। उन्होंने प्रत्येक पग पर मेरा मार्गदर्शन किया जिसके लिये मैं उनकी आजीवन कृतज्ञ व ऋणी रहूँगी।

शोधप्रबन्ध को पूर्ण करने में वर्तमान संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० सत्यप्रकाश शर्मा जी के सरहानीय सहयोग प्रदान करने एवं उत्साहवर्धन के लिये धन्यवाद देती हूँ। विभाग के समस्त गुरुजनों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ जिनके शुभाशीष व सहयोग से शोधकार्य सम्पन्न हो सका।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की पूर्णता हेतु शोध सामग्री संकलन में प्रदत्त सहयोग के लिये विभागीय पुस्तकालय प्रभारी सुश्री नुज़हत किदवई, मो० उस्मान भाई, विभागीय कार्यालय प्रभारी डॉ० शाहिद क़मर, ध्रुव सिंह भाई, मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी में कार्यरत श्री पीरमोहम्मद, श्री नदीमुल भाई, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष डी०आर०एन० मिश्र, हिमांचल विश्वविद्यालय की पुस्तकालयध्यक्षा डॉ० मंजुलता ठाकुर, पंजाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष डी०पी०सिंह तथा पटना विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० आर०एन०मिश्रा आदि का आभार व्यक्त करती हूँ।

इस महनीय कार्य में पारिवारिक जनों के सहयोग की अवज्ञा करना कृतघ्नता होगी। मैं सर्वप्रथम अपने पिता स्वर्गीय श्री हाजी हुसैन अहमद बरकाती को प्रेरक

मानते हुए नमन करती हूँ, जिनके अथक प्रयासों, प्रेरणा, शुभाशीष एवं मनोवैज्ञानिक सहयोग से शोधकार्य पूर्ण हो सका। मुझे सदैव दुःख रहेगा कि मैं उनके जीवन काल में अपना शोधकार्य पूर्ण कर उनका सपना साकार न कर सकी। मैं अपनी माता श्रीमती अनीस फ़ातिमा के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनका आशीर्वाद एवं सहयोग सदैव मेरे साथ रहा। औचित्यपूर्ण परामर्श एवं उत्साहवर्धन हेतु मैं अपने भाई कमाल अहमद बरकाती, बहनोई शहाबुद्दीन, मोहम्मद अहमद, बहन—ज़ीनत फ़ातिमा, अज़मत फ़ातिमा, नफीस फ़ातिमा, यासमीन अहमद, फ़रीना फ़ातिमा व पितृव्य अली अख़्तर के प्रति आभार प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझती हूँ।

अन्त में मैं अपने समस्त मित्रों व सखियों—इमरान परवेज़, असलम, आसिफ़, विनीत, बहन तुल्य गीता, असरा किदवई, सना नक़वी, चमन तथा विशेष रूप से इन्तेख़ाब अख़्तर के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने विभिन्न प्रकार से सदैव अपना सहयोग प्रदान किया। शोध प्रबन्ध के शुद्ध व स्पष्ट टंकण हेतु श्री कैलाश कुमार को धन्यवाद देती हूँ।

अंजुम फ़ातिमा
शोधच्छात्रा

(अंजुम फ़ातिमा)

संकेत-ग्रन्थसूची

अथर्व०	—	अथर्ववेद
ऋ०	—	ऋग्वेद
ऋ०भा०	—	ऋग्वेद-भाष्यम्
ऋ०सं०	—	ऋग्वेद संहिता
ऋ०सु०भा०	—	ऋग्वेद का सुबोध भाष्य
ऐ०उ०	—	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ०ब्रा०	—	ऐतरेय ब्राह्मण
कठो०	—	कठोपनिषद्
का०सं०	—	काठक संहिता
केनो०	—	केनोपनिषद्
गो०ब्रा०	—	गोपथ ब्राह्मण
छा०उ०	—	छान्दोग्योपनिषद्
जै०ब्रा०उ०	—	जैमिनीयब्राह्मणोपनिषद्
त०पाद	—	तर्कपाद
त०भा०	—	तर्कभाषा
त०वै०	—	तत्त्ववैशारदी
त०सं०	—	तर्क संग्रह
तै०उ०	—	तैत्तरीयोपनिषद्
तै०ब्रा०	—	तैत्तरीय ब्राह्मण
द०यजु०भा०	—	दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्कर

न्या०द०	—	न्याय दर्शन
न्या०सि०मु०	—	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
पं०द०	—	पंचदशी
पा०यो०द०	—	पातञ्जलयोगदर्शनम्
प्र०प०	—	प्रकरण पञ्चिका
प्र०पा०भा०	—	प्रशस्तपादभाष्य
प्र०र०	—	प्रस्थानरत्नाकर
प्रश्नो०	—	प्रश्नोपनिषद्
बृ०उ०	—	बृहदारण्यकोपनिषद्
भा०ग०वृ०	—	भावागणेशवृत्ति
भा०प०	—	भाषा-परिच्छेद
भो०वृ०	—	भोजवृत्ति
म०प्र०	—	मणिप्रभा
मा०मे०	—	माण्डूक्योपनिषद्
मु०उ०	—	मुण्डकोपनिषद्
मैत्रे०उ०	—	मैत्रेय्योपनिषद्
मै०सं०	—	मैत्रायणी-संहिता
यजु०	—	यजुर्वेद
यजु०सं०	—	यजुर्वेद-संहिता
यो०द०	—	योगदर्शन
यो०सू०	—	योगसूत्र
यो०वा०	—	योगवार्तिक

यो०सा०सं०	—	योगसारसंग्रह
यो०सि०चं०	—	योगसिद्धान्तचन्द्रिका
वि०चू०	—	विवेक चूड़ामणि
वे०परि०	—	वेदान्त परिभाषा
वे०सा०	—	वेदान्तसार
वे०सू०	—	वेदान्तसूत्र
वै०सू०	—	वैशेषिक सूत्र
वै०सू०उ०	—	वैशेषिकसूत्रोपस्कार
व्या०भा०	—	व्यासभाष्य
श०ब्रा	—	शतपथ—ब्राह्मण
शाट्०उ०	—	शाट्यायनीयोपनिषद्
शा०दी०	—	शास्त्रदीपिका
शाण्डि०उ०	—	शाण्डिलयोपनिषद्
शै०प०	—	शैवपरिभाषा
श्वे०उ०	—	श्वेताश्वतरोपनिषद्
साम०	—	सामवेद
सां०का०	—	सांख्याकारिका
सां०कौ०	—	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां०सू०	—	सांख्यसूत्र

प्रथम अध्याय

वैदिक साहित्य में मन की अवधारणा

प्रथम अध्याय

वैदिक साहित्य में मन की अवधारणा

प्रकृति सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार के पदार्थ बनाती है। सजीव पदार्थों के अन्तर्गत 'मनस्' आता है। हमारे शरीर में स्थित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कर्मेन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं। कर्मेन्द्रियों के कर्म ज्ञानेन्द्रियों से प्रेरित होते हैं। हमारे शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एक प्रमुख केन्द्र से नियन्त्रित होती हैं, जिसको 'मन' कहा जाता है। डॉ० हरगोविन्द के अनुसार 'मन' चेतनाओं का केन्द्र होता है।^१ मन से जुड़े बिना इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकती।

कर्मेन्द्रियाँ शरीर की स्थूल अंग एवं ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म अंग होती हैं। सूक्ष्म अंग स्थूल अंगों के माध्यम से ही काम करते हैं। चेतना सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती है। वह केन्द्रीभूत होकर 'मन' बन जाती है। शरीर के अन्य अंग जहाँ शरीर के अन्दर काम करते हैं, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत् के सम्पर्क में आकर काम करती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मन से नियन्त्रित होकर काम करती हैं। मन के सहयोग के बिना आँखे खुले होते हुए भी देख नहीं पाती, कान सुन नहीं पाता। मन भी आँखों के बिना देख नहीं सकता, कान के बिना सुन नहीं सकता। उसे कार्य करने के लिये अन्य अंगों की आवश्यकता होती है।

मनुष्य के शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध होती हैं। इनकी इन्द्रियाँ—कर्ण, चर्म, नेत्र, जिह्वा और नासा बतायी गयी हैं। ये बाह्य पदार्थ के सम्पर्क में आकर मनुष्य की चेतना को प्रभावित करती हैं। चेतना की भी दो स्थितियाँ होती हैं—

तात्कालिक एवं संचित। डॉ० हरगोविन्द के अनुसार—ज्ञानेन्द्रियाँ जो ज्ञान प्राप्त करती हैं उसे चेतना तत्काल मस्तिष्क की कोशिकाओं तक पहुँचा देती है। उनमें से कुछ कोशिकाओं में, जो असंख्य होती हैं, ये अंकित हो जाती हैं और वे स्मृति बन जाती है। ये कोशिकाएँ सतत् सक्रिय रहती हैं। इन्हें ही मन कहा जा सकता है।^१

मनुष्य का मन ही उसकी सर्वश्रेष्ठ निधि है, मननात्मक अंश ही मनुष्य में दैवी अंश है। शरीर का भाग पार्थिव और मन का भाग स्वर्गीय है। शरीर का स्वभाव नश्वर है, मन कल्पान्तरस्थायी है।

पुराणों में समुद्र-मंथन का वर्णन है। जैसे समुद्र में देवों और दानवों ने अमृतप्राप्ति के लिये उसका मंथन किया, उसी तरह मनुष्य के मन में भी अच्छाई तथा बुराई का संघर्ष चलता रहता है। वैदिक साहित्य में पुरुष को समुद्र भी कहा गया है।^२

इसी समुद्र का मंथन जीवन में सब मुमुक्षुओं के लिए आवश्यक है। उसी से अनेक रत्नों का उद्भव होता है। इस मंथन से जो अमृतत्व उत्पन्न होता है, वह देवों को ही प्राप्त होता है इसमें यदि असुर (आसुरिक प्रवृत्ति बुराइयाँ) विजय प्राप्त कर लेते हैं तो मनुष्य मृत्यु की ओर जाने लगता है।

इस शरीर में शक्ति का मुख्य स्थान केन्द्रीय नाड़ीजाल है। इसके दो भाग हैं, एक मस्तिष्क दूसरा मेरुदण्ड सम्बन्धी नाड़ी-संस्थान, जिसे 'सुषुम्णा' भी कहा गया है।^३ मस्तिष्क या मन के वैदिक ग्रन्थों में अनेक नाम हैं, उदाहरणार्थ—शिर, चमस, कलश—द्रोण एवं स्वर्ग।^४

१. भारतीय चिन्तन का विज्ञान; पृ०-६३

२. 'पुरुषो वै समुद्रः'।—जै०ब्रा०उ०, -३/३/५/५

३. कला और संस्कृति; पृ०-२०५

४. ऋ०-१/२/१६३/६; १/२/२०/२, ४/३३/१०, ५/१/४, ८/४८/७; ६/६/१/८; अथर्व०-१२/२/३/१

वैदिक मनः शास्त्र के पण्डितों ने अनेक संज्ञाओं के द्वारा मन की अपरिमित शक्तियों को ही प्रकट किया है। 'शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार शिर ही समस्त प्राणों का उद्भव स्थान है—'शिरो वै प्राणानां योनिः।'^१

पंच-प्राण ही पंचेन्द्रियों का संचालन करते हैं। इनका नियंत्रण शिर से ही होता है। शतपथ-ब्राह्मण में अन्यत्र निरुक्तशास्त्र की दृष्टि से कहा गया है—

“देवों ने श्री का दोहन किया। श्री दोहन के कारण ही शिर को यह नाम मिला। उस सिर में प्राण ने आश्रय लिया, आश्रय स्थान होने के कारण ही वह 'शिर' कहलाया।”^२

वासुदेवशरण अग्रवाल इसका विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—यहाँ श्री, आश्रय और शिर यह तीनों एक ही धातु, 'श्रिञ् श्रयते' से निष्पन्न है। तात्पर्य यह है कि 'सिर' या 'मस्तिष्क' ही प्राणों का प्रभव स्थान है। सिर की दूसरी संज्ञा 'चमस' है।^३ उपनिषद् (तैत्तिरीयोपनिषद्) तथा वेद मंत्रों में एक चमस का वर्णन आता है जिसका मुँह नीचे को (अर्वाग् बिलः) और पेंदी ऊपर को (ऊर्ध्वबुध्नः) है।^४ यदि हम ध्यानपूर्वक अपने शरीर का निरीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि मेरुदण्ड के ऊपरी भाग पर शिर रूपी कटोरा औंधा ढका हुआ है।

मेरुदण्ड का ऊपरी छोर सुमेरु और नीचे का कुमेरु कहलाता है। सुमेरु और कुमेरु के बीच सर्वदा अहर्निश एक विद्युत की तरंग या प्राणधारा प्रवाहित होती रहती है, इसका स्वास्थ्य ही हमारे आयुष्य का हेतु है।

१. श०ब्रा०—७/५/१/२२

२. यच्छियं समुदौहस्तस्माच्छिरः तस्मिन्नैतस्मिन्प्राणा।

आश्रयन्तु, तस्माद् उ एव एतत् शिरः।—वही, ६/१/१/४

३. यद्देवापिः शंतनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।

देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिवार्चचमस्मा अयच्छत्।।—ऋ० १०/६८/७

४. अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। इदं तच्छिरः।—श०ब्रा०, १४/५/२/५

सिर की तीसरी संज्ञा कलश^१ या द्रोण है, जिसमें सोम रस भरा जाता है। इस द्रोण कलश में जो सोम होता है, उसमें से छोटे-छोटे पात्रों में भरकर रस पिया जाता है। हमारे शरीर में भी रात-दिन यह प्रक्रिया चलती रहती है। मस्तिष्क में भरा रस ही सोम है, इसे अंग्रेजी में Cerebra-Spinal Fluid कहा जाता है। यह रस मस्तिष्क और मेरुदण्ड के समस्त नाड़ी संस्थान को खींचता रहता है। यह मस्तिष्क की वापियों (Ventricles) में उत्पन्न होता है, और मस्तिष्क एवं सुषुम्ना की सूक्ष्मतम नाड़ियों का पोषण और परिमार्जन करता हुआ उसमें सर्वत्र ओत-प्रोत रहता है। शरीर-यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली परिभाषाओं में सोम रस ही मस्तिष्क एवं सुषुम्ना में व्याप्त रस है। ऋग्वेद में सोम इन्द्र का रस या इन्द्रियसम्बन्धी रस कहा गया है—सोम इन्द्रियो रसः^२ सोम सबके मस्तिष्क में शान्ति और अमृत देने वाला 'चन्द्र' है। यही शिव के मस्तक पर रहता है।

सिर की चौथी संज्ञा स्वर्ग है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है—आठ चक्र और नव (इन्द्रिय) द्वारों वाला यह शरीर देवों की पुरी आयोध्या है। इसमें एक हिरण्य का कोष है जो ज्योति से ढका हुआ स्वर्ग है।^३ यह मस्तिष्क ही स्वर्ग है जो ज्योति लोक है और देवों का स्थान है। हिरण्य का एक पर्याय प्राण, वीर्य या सोम है। मस्तिष्क इन तत्त्वों का वास्तविक कोष है।^४ वीर्य या रेत से मस्तिष्क का साक्षात् घनिष्ठ

१. पुनानः कलशेषावस्त्राण्यरुषोहरिः।

परिगव्यान्यव्यत।।—ऋ० ६/६/१/८; अथर्व; ६/१/६

२. ऋ०, ८/३/२०

३. अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

अस्यां हिरण्ययो कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।—अथर्व०, १२/२/३/१—

;शीर्ष्णो द्यौः—ऋ० १०/६०/१४

४. वही, पृ०—२४५

सम्बन्ध है।^१ मस्तिष्क संकल्पों का स्थान है। कामदेव को संकल्प योनि कहा जाता है।^२ काम की सर्वप्रथम चेतना मन से ही स्फुरित होती है।^३ अतएव उसकी 'मनोज' या 'मनसिज' संज्ञाएं अन्वर्थ है।

“बृहदारण्यकोपनिषद् में मन को ग्रह कहा गया है, जो कामरूप अतिग्रह से गृहीत हैं, क्योंकि प्राणी मन से ही विषयों की कामना करता है।”^४

मन को निर्विकार रखने से काम पर विजय प्राप्त होती है। मन को वश में करने की शास्त्रीय विधि 'योग' है। शिव सर्वप्रथम योगी है। अतएव वही मदन-दहन करने में सफल हुये। वासुदेवशरण अग्रवाल ने कला और संस्कृति में लिखा है—हमारे शास्त्रों के अनुसार विचार ज्योति का लक्षण है। विचार, ज्योति की किरण के समान है जो अन्धकार को चीरती हुई फैलती है, इसलिये बुद्धि को सूर्य और विचारों को ज्योति कहा गया है। विचारों का लोक मस्तिष्क है, वह ज्योति से आवृत स्वर्ग कहा गया है। शरीर की प्रकृति ने ऐसी रचना की है कि उसमें मस्तिष्क ही विचार कर सकता है। मस्तिष्क या सिर के नीचे शरीर का जो भाग है उसमें संकल्प-विकल्प की शक्ति नहीं है। अतएवं आर्ष परिभाषा में सिर को ज्योति लोक या देव लोक तथा शेष शरीर को तमो लोक या असुरों का लोक कहते हैं। मनुष्य में ज्योति और तम, देव और असुर—दोनों का साथ-साथ निवास है।^५

१. कामस्तदग्रे सर्ववर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।—ऋ०, १०/१२६/४

२. अथर्ववेद का सुबोध-भाष्य, पृ०-१८

३. कामो जज्ञे प्रथमो।—अथर्व०, ६/२/१६;

: कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।—बृ०उ०, १/५/३

४. मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान् कामयते।—वही, ३/२/७

५. कला और संस्कृति, पृ०-२०७

वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार 'सुषुम्णा के भाग का नाम 'पृथ्वी' और मस्तिष्क भाग का नाम 'स्वर्ग' है। इन दोनों का जो सम्मिलन है अर्थात् जहाँ सुषुम्णा (Spinal Chord) मस्तिष्क (Cerebrum) में प्रवेश करती है, उस स्थान को अन्तरिक्ष (Medulla Oblongata) कहा जाता है।^१ हमारा समस्त इन्द्रिय व्यापार इन्हीं तीन चेतना के स्थानों के पारस्परिक सहयोग से सम्भव होता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी चेतना के तीनों स्थानों का वर्णन किया गया है।^२

बृहदारण्यकोपनिषद् में मन को अन्तरिक्ष की संज्ञा दी गई है— 'मनोऽन्तरिक्षलोकः'।^३ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर सोम और सुरा दोनों विद्यमान हैं। अन्न जब पेट में पहुँचता है उसका अभिषव होकर जो शारीरिक शक्ति बनती है वह सुरा है। उसी अभिषुत रस के अधिक सूक्ष्म होने से जो सूक्ष्म मनःशक्ति उत्पन्न होती है वह सोम है।^४ सोम ही चन्द्रमा है, इसलिये चन्द्रमा को मन से उत्पन्न कहा जाता है।^५

ऋग्वेद में मन

ऋग्वेद में 'मन' को दैवी बनाने का आदेश

इन्द्रियों में प्रधान 'मन' बाहर की दसों इन्द्रियों के निखिल व्यापारों का सञ्चालन करता है। मन में आसुरी तथा दैवी दोनों सम्पदायें भरी पड़ी हैं। एक के अपनाने से हमारा विनाश तथा दूसरी के अपनाने से विकास होता है। वेद इसीलिये मन को दैवी मन बनाने का आदेश देते हैं। मन को दिव्यता की ओर ले जाने का शिवसंकल्प

१. कला और संस्कृति, पृ०-२०७

२. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

पद्य्भां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥—ऋ०, १०/६०/१४

३. बृ०उ०, १/५/४

४. कला और संस्कृति, पृ०-२०६

५. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।—ऋ०, १०/६०/१३

हमारे अन्दर अटूट रहना चाहिये। इस संकल्प का बाह्य बिन्दु श्रवण है। मन दैवी विचार सुने, देवों का संसर्ग करें, दिव्य भावों के अनुशीलन में रमें, तो दिव्यता के इस आसंग से उसमें दैवरूचि उत्पन्न हो जाएगी। श्रवण के उपरान्त दूसरा बिन्दु मनन है जो श्रवण की हुई सामग्री को हमारा अंग बना देता है। मनन आन्तरिक है, परन्तु उससे भी आन्तरिक निदिध्यासन है जिसे हम निबिड, सघन, बिना तार टूटे, ध्यान की अवस्था कह सकते हैं। प्रज्ञा का प्रकाश इसी अवस्था में होता है। श्रवण से पाण्डित्य, मनन से मुनित्व, निदिध्यासन से ऋषित्व तथा प्रज्ञा से देवत्व प्राप्त होता है।

मन को दैवी बनाने की प्रेरणा ऋग्वेद के कई मन्त्रों में पायी जाती है। यथा—

“तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्षधिया कृतान्।

अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।।”

अर्थात् हम ज्ञान का ताना और कर्म का बाना बुनते हुए दिव्य सूर्य के पीछे—पीछे चलें। ज्योतिष्मान ज्ञानधनी अपने बुद्धि—बल से जिन प्रकाश पथों का निर्माण कर गये हैं, उनकी रक्षा इसी विधि से होगी। हमें उल्बण रहित होकर, बिना गांठ डाले, कवियों ऋषियों के पुनीत पद—चिह्न पर चलना है। यदि हम मननशील मनु बन गये, तो दैव्य जन की प्रसूति भी संभव हो जाएगी। दिव्यता की संतान, दैवी स्थिति की उत्पत्ति मननशीलता के पश्चात् ही सम्भव है।^१

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।

अग्निमीधे विवस्वभि।^२

१. ऋ०, १०/५३/६

२. वही, भाग—८, पृ०—३६

३. वही, ८/६२/२२

अर्थात् 'वरुणदेव! जिस प्रकार रथ स्वामी अपने थके हुए घोड़ों को शान्त करता है, उसी प्रकार सुख के लिये स्तुति द्वारा हम तुम्हारे मन को प्रसन्न करते हैं।'^१

ऋषि कहते हैं मन को दान देने के लिये प्रेरित किया जाये—

उषायेते प्रयामेषुयुञ्जतेमनोदानायसूरयः ।

अत्राहतत्कण्वएषांकण्वतमोनामगृणातिनृणाम् ।^२

अर्थात् हे उषा! तुम्हारा आगमन होने पर विद्वान् लोग मन को दान देने के लिये प्रेरित करते हैं, अतिशय मेघावी कण्वऋषि दानशील मनुष्यों के प्रख्यात नाम उषाकाल में ही लेते हैं।^३

भाष्यकार दामोदर सातवलेकर के अनुसार—'जो व्यक्ति सवेरे उठकर अपने मन को उत्तम कर्मों में लगाते हैं उनका मन इधर-उधर नहीं घूमता। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है।^४ अन्यत्र एक मंत्र में मन को दान में रत करने की कामना की गई है—'सोमपायी इन्द्र! दान में तुम्हारा मन रत हो। स्तुतिप्रिय! अपने हरि नाम के घोड़ों को हमारे यज्ञ के अभिमुख करो। इन्द्र! तुम्हारे सारथि घोड़ों को वश में करने में बड़े दक्ष हैं इसीलिये तुम्हारे विरोधी शत्रु हथियार लेकर तुम्हें पराजित नहीं कर सकते।'^५

मन का उत्पादक बीज 'काम'

एक मन्त्र में काम को या सृजन की इच्छा को मन का रेत या उत्पादक बीज कहा गया है—

१. ऋ०सु०भा०, पृ०-५१

२. वही, १/४८/४

३. ऋ०, भाग-१, पृ०-४०१

४. ऋ०भा०, पृ०-११६

५. दानाय मनः सोमपावन्नस्तु तेऽर्वाज्या हरी वन्दनश्रुदा कृधि।

यमिष्ठासः सारथयो य इन्द्र ते न त्वा केता आ दभ्नुवन्वि भूर्णयः।—वही, १/५५/७

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।^१

अर्थात् सर्वप्रथम परमात्मा के मन में सर्वप्रथम बीज (उत्पत्तिकारण) निकला । बुद्धिमानों ने, बुद्धि के द्वारा, अपने अन्तःकरण में विचार करके अविद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु का उत्पत्ति-स्थान निरूपित किया ।^२

मन को स्थिर करने की प्रेरणा

ऋग्वेद में मन को स्थिर करने की प्रेरणा प्रदान की गई है—

स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित् ।

अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतौ वि विदो गवामूर्वमुस्त्रियाणाम् ।।^३

हे इन्द्र! उत्पन्न होते ही तुमने सब शत्रुओं को जीतने के लिये चित्त को स्थिर (दृढसंकल्प) किया था । हे इन्द्र! अकेले ही तुमने बहुतेरे राक्षसों से युद्ध करने के लिये गमन किया । गौओं के आवरण पर्वत को तुमने बल द्वारा विदीर्ण किया था ।^४ भाव यह है कि किसी भी कार्य को पूर्ण करने के लिये या शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराने के लिए मन को स्थिर या दृढसंकल्प होना अत्यन्त आवश्यक है । स्थिर मन के द्वारा कठिन से कठिन काम को उचित प्रकार से पूर्ण किया जा सकता है ।

देव शून्य मन की निन्दा

ऋषि देव शून्य मन की निन्दा करते हुए कहते हैं—

१. ऋ०, १०/१२६/४

२. ऋ०भा०, पृ०—६८

३. ऋ०; ५/३०/४

४. वही, भाग—४, पृ०—६१,

अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघां सति ।

बृहस्पते मा प्रणक्तस्य नो वधो नि कर्म भुन्युं दुरेवस्य शर्घतः ।।^१

अर्थात् जो व्यक्ति देव शून्य मन से हमारी निंदा करता है, और जो उग्र आत्माभिमानी हमारा वध करने की इच्छा करता है, हे बृहस्पति! उसका आयुध हमे न छू सके। हम वैसे बलवान् और दुष्ट शत्रु का क्रोध नाश करने में समर्थ हों।^२

देव शून्य मन से यह अभिप्राय है कि जिस व्यक्ति के मन में दयाभाव का अभाव हो, पापी हो, उग्र हो, आत्माभिमानी हो और दूसरों को कष्ट पहुँचा कर प्रसन्न होता हो, ऐसे व्यक्ति को देवशून्य मन वाला कहा गया है तथा निंदा की गई है।^३ एक अन्य मन्त्र में निष्ठुर मन वालों को कोई सुखदाता नहीं मिलता कहा गया है—

य आध्नाय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।

स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरो—तो चित् समर्द्धितारं न विन्दते ।।^४

अर्थात् जिस समय कोई भूखा मनुष्य भीख माँगने को उपस्थित होता है, अन्न की याचना करता है, उस समय जो अन्नवाला होकर भी मन को निष्ठुर रखता है, और सामने ही भोजन करता है, उसे कोई सुखदाता नहीं मिल सकता।^५ एक अन्य मन्त्र में कहा गया—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाधो भवति केवलाद ।।^६

१. ऋ०, २/२३/१२

२. वही, भाग-२, पृ०-५५५.

३. वही, पृ०-२०३

४. वही, १०/११७/२

५. वही, भाग-८, पृ०-४६८

६. वही, १०/११७/६

अर्थात् जिनका मन उदार नहीं है, उसका भोजन करना वृथा है। उसका भोजन उसकी मृत्यु के समान है। जो न तो देवता को देता है और न मित्र को देता है तथा स्वयं भोजन करता है, वे केवल पाप खाता है।^१

उत्तम मन के लिये प्रार्थना

ऋग्वेद के कई मन्त्रों में मन को भद्र बनाने की प्रार्थना की गई है। यथा—

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।

अघा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे।।^२

अर्थात् सोम, हमारे मन को इस प्रकार उत्तम रूप से प्रेरित करो कि वह निपुण और कर्मनिष्ठ हो। जैसे गाय घास में रत होती हैं, वैसे ही स्तोता लोग अन्न में रत होते हैं। विमद के लिये तुम महान् हो।^३ एक अन्य मन्त्र में—धन प्राप्ति के लिये मेरे मन में नाना प्रकार की कामनायें उत्पन्न होती हैं। विमद के लिये तुम महान् हो।^४ एक मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि अग्नि ने मन को कल्याणकारी बनाने के लिये धारण किया—

यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम्।

एवा दाधार ते मनो जीवातवे मृत्युवेऽर्थो अरिष्टतातये।।^५

अर्थात् जैसे रथ धारण करने के लिये रज्जु (पाश) से दोनों कोष्ठों को बाँधते हैं, वैसे ही अग्नि ने तुम्हारे मन को धारण कर रखा है, ताकि तुम जीवित और

१. ऋ० सं०, भाग—८, पृ०—४७०

२. वही, १०/२५/१; 'भद्रं मनः कृणुष्व'—ऋ०, १/१६/२०

३. वही, भाग—७, पृ०—४६६

४. वही, १०/२५/२

५. वही, १०/६०/८

कल्याण—स्वरूप बनो तथा तुम्हारी मृत्यु दूर हो।^१ अतः मन के कल्याणकारी होने पर व्यक्ति जीवित रहते हुए कल्याण—स्वरूप बनता है तथा मृत्यु से दूर रहता है।

मन दूरगामी है

मन दूरगामी होता है। पलक झपकते ही सात समुद्र पार चला जाता है और एक ही पल में वापस आ जाता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि कहते हैं—

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुः वीदं ज्योतिः हृदयं आहितं यत्।

वि मे मनः चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये।^२

मेरे कान सुनने के लिये दौड़ रहे हैं, मेरे आँख दौड़ रहे हैं, मेरे हृदय में रहा यह तेज और उसके साथ मेरा मन दूर तक का विचार करता हुआ चल रहा है। अब मैं क्या वर्णन करूँ और क्या विचार करूँ?^३

प्रस्तुत मन्त्र में अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों का उल्लेख किया गया है।

वेगवान् 'मन'

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में मन को वेगवान् कहा गया है।^४ एक मन्त्र में अश्व को मन के समान तीव्रगामी कहा गया है—

आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे।

सहस्रकेतु वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभि प्रयः।^५

१. ऋ०, भा०—८, पृ०—७१,

२. वही, ६/६/६

३. वही, भाग—४, पृ०—३४५

४. वही, ८/२२/१६; ८/१००/८; ८/५/३५; ७/६८/३; ४/४८/१; ६/६२/३

५. वही, १/११६/१

अश्विद्वय! जीवन धारण के लिये, अन्न के निमित्त, मैं तुम्हारे रथ का आवाहन करता हूँ। वह रथ बहुविधगतिविशिष्ट मन की तरह शीघ्रगामी, वेगवान् अश्व से युक्त, यज्ञ—पात्र, सहस्रकेतुयुक्त, शतधन—युक्त, सुखकर और धनदाता हैं।^१

ऋग्वेद के एक मन्त्र में मरुद्गण को मन के समान वेगवान् और वृष्टि—सेवन कार्य में नियुक्त होने का आदेश दिया गया है।^२ ऋग्वेद में मन को वेगवान्, त्रिबन्धुर या त्रिबन्धनाधारभूत और वायु—वेगी कहा गया है—

आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृडीकः स्ववाँ यात्त्वर्वाङ् ।

यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान्त्रिवन्धुरो वृषणा वातरंहाः ।।^३

अश्विद्वय, श्येन पक्षी की तरह शीघ्रगामी, सुखकर और धनयुक्त तुम्हारा वह रथ मनुष्य के मन की तरह वेगवान्, त्रिबन्धुर या त्रिबन्धनाधारभूत और वायु—वेगी है।^४

ऋग्वेद में एक समान मन की कामना

ऋग्वेद में मन के समान होने की कामना कई स्थानों पर की गई है। एक मन्त्र में ऋषि कामना करते हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथां पूर्वं संजानाना उपासते ।।^५

१. ऋ०, पृ०—३१५

२. वियम्राजन्तेसुमरवासऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तोअच्युतचिदोजसा ।
मनोजुवोयन्मरुतोरथेष्वापृषव्रातासः पृषतीरयुग्धम् ।।—वही, १/८५/४

३. वही, १/११८/१

४. ऋ०सं०, भा०—१, पृ०—६१४

५. वही, १०/१६१/२

अर्थात् स्तोताओं, तुम मिलित होओ, एक साथ होकर स्तोत्र पढ़ो और तुम लोगों का मन एक-सा हो। जैसे-प्राचीन देवता एक मत होकर, अपना हविर्भाग स्वीकार करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी, एक मत होकर, धनादि ग्रहण करो।^१

ऋग्वेद के एक स्थान में मन तथा चित्त एक विध हों, ऐसी कामना की गई है-

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।

समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।^२

इन पुरोहितों की स्तुति एक सी हो, इनका आगमन एक साथ हो और इनके मन (अन्तःकरण) तथा चित्त (विचारजन्य ज्ञान) एक विध हों। पुरोहित मैं तुम्हें एक ही मन्त्र से मन्त्रित (संस्कृत) करता हूँ और तुम्हारा साधारण हवि से हवन करता हूँ।^३ एक अन्य मन्त्र में मन को एक समान करने पर बल दिया गया है-

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।^४

अर्थात् यजमान-पुरोहित तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों और तुम्हारा अन्तःकरण (मन) एक हो। तुम लोगों का सम्पूर्ण रूप से संघटन हो।^५ मन्त्रार्थ यह है-सांमनस्य को चाहने वाले पुरुषों का संकल्प एक समान होना चाहिये तथा संकल्पों को उत्पन्न करने वाले हृदयकमल के भीतर रहने वाले अन्तःकरण एक से हो,

१. ऋ०सं०, भाग-८, पृ०-७००

२. वही, १०/१६१/३

३. वही, भाग-८, पृ०-७०१

४. वही, १०/१६१/४

५. ऋ०सं०, भाग-८, पृ०-६०१

एवं सुखादि का प्रत्यक्ष कराने वालों, मन नाम की इन्द्रिय एक रूप हो जाए इस प्रकार समस्त कार्य शोभनरीति से साथ-साथ हो जिसके लिये देवता भी एकचित्त एक भाव युक्त कर्मों को करते हैं।^१

यजुर्वेद में मन

वैदिक काल में ही मनीषियों ने मन की अपूर्व शक्ति के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करके उसके अस्तित्व को स्वीकार किया था। जब हम 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' सूक्त का अध्ययन करते हैं तथा उसके अर्थों पर मनन करते हैं, तब हमें आश्चर्य होता है कि मन की जाग्रत और सुषुप्त (Conscious and Subconscious) सभी प्रकार की शक्तियों को पहचानने में भारत के प्राचीन मनः वैज्ञानिकों को कितनी अधिक सफलता मिल चुकी थी।

यजुर्वेद के चौतिसवें अध्याय के सोलहवें सूक्त में मन के शिवसंकल्प होने की प्रार्थना की गई है। मन के शिवसंकल्प होने पर ही व्यक्ति ध्यानस्थ, कार्यस्थ या योगस्थ हो सकता है। एक मन्त्र में मन को आत्मा का दर्शन करने वाला तथा सभी बाह्य इन्द्रियों को प्रकाशित करने वाला (ज्योतिषां ज्योतिरेकम्) कहा गया है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सप्तस्य तथैवेति ।

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।^२

१. ऋ०भा०, पृ०-१०२

२. यजु०, ४/१६/१

अर्थात् मन जाग्रत अवस्था में दूरगामी होता है तथा सुषुप्ति अवस्था में लौट आता है। यह आत्मा का दर्शन करने वाला तथा सभी बाह्य इन्द्रियों को प्रकाशित करने वाला, अपरिमित शक्ति से सम्पन्न यह शुभ-सङ्कल्प हो ऐसी इस मन्त्र में कामना की गई है।^१

जिस मन के द्वारा मनीषीजन यज्ञिय-विधान में अभीष्ट कर्मों को करते हैं, वह मन शिवसंकल्पों से युक्त हो ऐसी कामना की गई है—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पस्तु ॥^२

अर्थात् कर्मों में तत्पर, धीर, मेधावी जन जिस मन के द्वारा यज्ञ में श्रेष्ठ कर्मों को करते हैं और जो मन शरीर में स्थित है, वह ज्ञान में अपूर्व और पूजनीय भाव वाला होता हुआ कल्याणमय सङ्कल्प वाला हो।^३

महर्षि दयानन्द इस मन्त्र का विशदर्थ उपस्थापन करते हुए लिखते हैं—हे परमेश्वर! आपके संग से सदा कर्मनिष्ठ, मन का दमन करने वाले, ध्यानी मेधावी लोग अग्निहोत्र आदि, धर्म से संगत व्यवहार या योग्याभ्यास में और विज्ञान तथा युद्ध आदि व्यवहारों में जिस मन से कर्म करते हैं, जो मन अत्युत्तम गुण-कर्म-स्वभाव वाला, प्राणिमात्र के मध्य में विद्यमान, पूजनीय एवं संगत है, वह मेरा मनन एवं विचार आत्मक मन धर्म से प्रेम करने वाला हो। मनुष्य, परमेश्वर की उपासना, सुविचार, विद्या और सत्संग से मन को अधर्म से हटावें और धर्माचरण में लगावें।^४

१. शु०यजु०सं०, पृ०—३६२; महर्षि वात्स्यायन के अनुसार—आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ (विषय) से। इस प्रकार मन प्रकाशन एवं प्रवर्तक है। दयानन्द—यजुर्वेद भाष्य भास्कर, पृ०—१५८

२. यजु०, ३४/१६/२

३. वही, पृ०—५०६

४. द०यजु०भा०, पृ०—११६

अधोलिखित मन्त्र में मन को सामान्य एवं विशेष ज्ञान का साधक माना गया है—

यत्प्रजानमुत चेतो धृतिश्च

यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्न ऋते किं च न क्रियते

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।^१

अर्थात् जो मन प्रकर्षज्ञान तथा सामान्य—विशेष ज्ञान का साधन है, जो जीवों के अन्दर अमृत ज्योति है तथा जिसके बिना कोई कार्य नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन कल्याण सङ्कल्प वाला हो ।^२

दयानन्दभाष्यानुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है— हे मनुष्य! जो अन्तःकरण—बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार वृत्ति वाला होने से चार प्रकार का है आन्तरिक प्रकाश वाला, प्रजा के सब कर्मों का साधक, नाशरहित मन है, उसे न्याय और सत्याचरण में प्रवृत्त करके पक्षपात, अन्याय और अधर्माचरण से तुम निवृत्त करो ।^३

अधोलिखित मन्त्र में यह कहा गया है कि मन के द्वारा समस्त पदार्थ ज्ञात होते हैं—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।^४

१. यजु०, ३४/१६/३

२. शु०यजु०सं०, पृ०—३६३

३. द०यजु०भा०, पृ०—११६

४. वही, ३४/१६/४

अर्थात् मन अनश्वर है, इसके द्वारा ही भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सारे पदार्थ ज्ञात होते हैं, जिसके द्वारा सप्तहोता यज्ञ का विस्तार किया जाता है, वह मेरा मन शिवसङ्कल्पों से युक्त हो।^१

मन चारों वेदों का आश्रय स्थान है—

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनामाविवाराः ।

यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।^२

अर्थात् मन में ऋक्, साम और यजु इस तरह पिरोये हुये हैं, जैसे—रथ के पहिये की परिधि में अरे लगे रहते हैं, जिस मन में प्रजाओं के समस्त संकल्प ओत—प्रोत हैं, वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्पों वाला हो।^३ इस मन्त्र का अर्थ दयानन्दभाष्यानुसार इस प्रकार किया गया है—मन के स्वस्थ होने पर ही वेदादि शास्त्रों के पठन—पाठन का व्यवहार सम्भव है। मन ही वेदादि विद्या को धारण करने वाला है। इसमें सब व्यवहारों का ज्ञान संचित है। मन को विद्या और धर्माचरण से पवित्र बनावें।^४

अधोलिखित मन्त्र में मन को अजर, अमर तथा वेगवान् कहा गया है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीर्वाजिनऽ इव ।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।^५

अर्थात् उत्तम सारथी जैसे लगाम की सहायता से वेगवान् घोड़ों को स्वेच्छा से यत्र—तत्र ले जाता है, ऐसे ही जो मन मनुष्यों को जहाँ चाहे वहाँ ले जाता है, तथा

-
१. यजु०, पृ०—५०६
 २. वही, ३४/१६/५
 ३. शु०यजु०सं०, पृ०—३६४
 ४. द०यजु०भा०, पृ०—१६३
 ५. यजु०, ३४/१६/६

जो मन कभी बूढ़ा नहीं होता, सदा अत्यन्त वेगवान् बना रहता है, जो मानों हृदय में रहकर शरीर को कार्यक्षम बनाता है, मेरा वह मन सदा शुभ सङ्कल्पों से पूर्ण हो अथवा शान्त सङ्कल्प (निश्चल) हो।^१

क्या विश्व के साहित्य में ऐसे शब्द अन्यत्र मिल सकते हैं जो मन की महिमा करने में इससे अधिक ओजस्वी हों? अब तक मन की स्तुति में अन्यत्र जो कुछ कहा गया है, उन सबके मूलस्त्रोत स्वरूप ये शिवसङ्कल्पसूक्त हैं। अवश्य ही इस मनः सूक्त ऋषि जिनका नाम भी संयोग से शिवसङ्कल्प है, अपने आध्यात्मिक अनुभव की ऊँचाई से मन की प्रशंसा में उससे भी कहीं अधिक कह दिया है, जितना कि हम भविष्य में कभी कह पायेंगे। शिवसङ्कल्पसूक्त में वर्णित मन के ये विशेषण कितने सार्थक हैं, जैसे—ज्योतिषां ज्योतिः, अपूर्वम्, यक्षम्, दैवं, दूरंगमं, अमृतं ज्योतिः, प्रज्ञानम्, चेतः, धृतिः, अजिरम्, जविष्ठम् आदि।

यजुर्वेदीय शिवसङ्कल्प के मन्त्रों को एक उपनिषद् माना जाता है।^२ उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण मन को शिवात्मक सङ्कल्पों से युक्त करने का भाव ही है।

डॉ० मधुरिमा सिंह के अनुसार शिवसङ्कल्प सूक्त के आधार पर मन को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है।^३

दैवमन^४—जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों का आधार है।

यक्षमन^५—यह कर्मेन्द्रियों का अधिकारी है।

-
१. शु०यजु०सं०, पृ०—३६५
 २. कला और संस्कृति, पृ०—२१६
 ३. आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष, पृ०—६
 ४. यजु०, ३४/१६/१
 ५. वही, ३४/१६/२

प्रज्ञानमन^१—मन का जो भाग मस्तिष्क में रहकर विषयों का निश्चय करता है, वह प्रज्ञान मन है।

चेतस् मन^२—मन के इस भाग में संस्कार रहते हैं। यह अनुभूत विषयों का स्मरण रखता है। ये चार भाग व्याप्त मन के हैं।

धृति मन^३—धृति मन न जाने ऐसी कितनी शक्तियों को धारण किये है जिनका मनुष्य को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान नहीं होता। यह भाग अव्याप्त मन का है।

हमारा मस्तिष्क विश्व के द्युलोक का ही अंश है।^४ चतुर्वेद मीमांसा में लिखा है—सम्यक उपासना करके हम अपने मस्तिष्क को द्यावा के साथ जोड़ सकते हैं। ऋचायें परम व्योम में हैं, द्यावा में हैं और हमारे मस्तिष्क के भीतर हृदयाकाश में भी हैं। जब—जब श्रुति लुप्त हुई है, तब—तब ऋषियों ने उसे तप, धारणा एवं ध्यान द्वारा उपलब्ध किया है।^५

मनुष्य का मन यदि शिवसङ्कल्पशील रहे तो शरीर की यात्रा उत्क्रमण, उर्ध्वारोहण वाली सिद्ध होगी। मनुष्य का मन ही इस यज्ञ में बाधा डालता है। अतः इसके परिष्कार के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। 'मनसा जुहामि' मन से पड़ी आहुति ही मन को निर्मल बनाती है। शरीर शुद्ध, मन निर्मल और बुद्धि पावन हो गई हो तो दिव्यता का प्रवेश हो ही जाता है।^६ मननात्मक अंश ही मनुष्य में दैवी अंश है।

१. यजु०, ३४/१६/३

२. वही, ३४/१६/४

३. वही, ३४/१६/५

४. ऐ०उ०, १/१/४

५. चतुर्वेद मीमांसा, पृ०—४५

६. वही, पृ०—४८

मन ही चन्द्रमा है

मन को चन्द्रमा से उत्पन्न कहा गया है।^१ यजुर्वेद के अध्यात्म पक्ष में चन्द्रमा का अर्थ मन है। एक मन्त्र में प्रश्न किया गया है कि कौन बार-बार घटता-बढ़ता है?^२ और उत्तर में कहा गया है कि 'चन्द्रमा' है जो बार-बार उत्पन्न होता है।^३ वहाँ भी अध्यात्म पक्ष में चन्द्रमा का अर्थ मन है। जो संकल्पों के द्वारा निरन्तर वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता रहता है। अमृत-विष, एवं सोम-सुरा के द्वन्द्व मन की शक्तियों को लक्ष्य करके कहे गये हैं। अध्यात्म पक्ष में इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

मन ही देवों का वाहन अश्व है

शतपथ ब्राह्मण में प्रश्न किया गया है—मन के समान वेगवान् अश्व कौन है, जिसके सात मुख हैं? उत्तर में कहा गया है वह अश्व देवों का वाहन है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि मन ही देवों का वाहन अश्व है। इसी पर आरुढ़ होकर देव विचरण करते हैं—

“मनो वै देव वाहनं । मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते मन एवैतया समिन्दै” ॥ श०ब्रा० १/४/३/६^४

अर्थात् मन ही देववाहन है। क्योंकि मन ही देवों तक विद्वानों को ले जाता है। इससे मन को ही प्रज्वलित करता है।^५ प्रश्न यह है कि उसके (मन रूपी अश्व के) सात

१ चन्द्रमा मनसो जातः—यजु०, ३१/१२

२ क उ स्विज्जायते पुनः ।—वही, २३/६

३ चन्द्रमा जायते पुनः ।—वही, २३/१०

४ ऋग्वेद में भी देव-वाहन अश्व का वर्णन आया है—
वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः
तं हविष्मन्त ईडते ।—ऋ०, ३/२७/१४

५ श०ब्रा०, पृ०—८६

मुख कौन से हैं? सप्तशीर्षण्य^१ प्राण ही मन रूपी अश्व के सात मुख है—दो आँख, दो नासारन्ध्र, दो कान और जिह्वा ये सात ऋषि हैं जिनसे प्राणिमात्र काम लेते हैं। सप्तशीर्षण्य प्राण और सप्तर्षि ये परिभाषा वेद में सामान्य रूप से बार—बार आती हैं तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में इनको स्पष्ट किया गया है—‘इमामेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमामेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदाग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो, वागेवात्रि।’^२ अर्थात् ये दोनों (कान) ही गौतम और भरद्वाज हैं, यह ही गौतम है और यह (दूसरा) भरद्वाज है। ये दोनों (नेत्र) ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, यह ही विश्वामित्र है। और यह दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों (नासारन्ध्र) ही वसिष्ठ और कश्यप हैं, यह ही वसिष्ठ है और यह दूसरा कश्यप है। तथा वाक् ही अत्रि है।^३

प्राणों का अधिपति मन है। सप्तमुखी मन ही देवों का वाहन अश्व है, मन ही सप्तमुखी इन्द्रिय वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेने से या इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाने से ही देवत्व मनुष्य को प्राप्त करके अपने अभिलषित स्थान पर पहुँच सकता है।

मन संकल्पों—विकल्पों का प्रभव स्थान है

मनुष्य का मन संकल्पों विकल्पों का प्रभव स्थान है। बृहदारण्यकोपनिषद् में मन को सभी प्रकार के संकल्पों का अयन कहा गया है।^४ बालक और युवा में जो अन्तर है वह मन की अवस्था का ही भेद है। संसार के उत्कृष्ट मस्तिष्क वाले संकल्पवान् प्राणी में और एक साधारण मनुष्य में भी जो भेद है वह मन की शक्तियों के भेद के कारण है। जो मनुष्य अपने अन्दर संकल्पवान् मन का भरण करते हैं वे ही राष्ट्र की निधि है।

१. सप्तशीर्षण्य—(शिरस् + यत्, शीर्षन आदेश) शिरस्त्राण—संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ०—११६०

२. बृ०उ०, २/२/४

३. वही, पृ०—५०६

४. सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेव।—वही, २/४/११

सामवेद में मन

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं की विभूतियों का वर्णन करते हुए “वेदानां सामवेदोऽस्मि” ऐसा कहा है। चारों वेदों में सामवेद भगवान् की प्रमुख विभूति है। सामवेद के अनेक मन्त्रों में मन एवं इसके स्वरूप के विषय का उल्लेख प्राप्त होता है। गद्य, पद्य तथा गायन में से मन पर “गायन” का विशेष प्रभाव पड़ता है इसका अनुभव सबको होगा। साधारण मनुष्य के मन पर गायन के आनन्द का प्रभाव अधिक होता है। रोगी के मन पर भी गायन का प्रभाव पड़ता है और वह शीघ्र स्वस्थ होता है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के अनुसार—सामगान में स्वर को ऊँचे आलाप से शुरू करके उसे धीरे-धीरे नीचे आलाप पर लाया जाता है, उसके कारण मन को शान्ति मिलती है और भड़का हुआ मन सामगान को सुनकर शान्त हो जाता है। इसलिये मन को शान्त करने के लिये सामगान का उपयोग लाभप्रद है।^१

सामवेद में ‘मन’ शब्द का उल्लेख

सामवेद के अनेक मन्त्रों में ‘मन’ शब्द का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ—एक मन्त्र में अग्नि के मन को सूर्य लोक से खींच लाने की बात कही गई है—

आ ते वत्सा मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।

अग्ने त्वां कामये गिरा ।^२

अर्थात् हे अग्ने! उपासक, स्तुतियों के द्वारा तेरे मन को सूर्य लोक से खींच लाता है।^३ उपासना और तपस्या के द्वारा मन को नियंत्रित किया जाता है तथा नियंत्रित मन अनेक विषयों में नहीं लगता।

१. साम०, पृ०-४

२. वही, ८/६/१

३. वही, पृ०-१५८

एकाग्रचित्त एवं स्थिर होकर ही युद्ध में शत्रुओं का वध किया जा सकता है इसलिये सामवेद में, स्थिर मन वाले इन्द्र को वीर कहा गया है। एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूरं उत स्थिरः।^१

इसी मन्त्र में यह भी कहा गया है कि—

एवा ते राध्यं मनः।^२

अर्थात् इन्द्र का मन स्तुतियों से आकर्षित करने योग्य है (स्तुति और पूजा के योग्य है)।^३

एक मन्त्र में मन को अनेक विषयों की ओर जाता हुआ कहा गया है।^४ क्योंकि मन स्वभाव से ही चंचल होता है इसलिये अनेक विषयों में लिप्त हो जाता है।

अधोलिखित मन्त्र में इन्द्र के मन से बल बढ़ाने के लिये धन प्रदान करने की कामना की गई है—

यत्ते दिक्षु प्रराध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत्।

तेन दृढा चिदद्रिव आ वाजं दर्षि सातये।^५

हे वज्रधारी इन्द्र! तेरा सब दिशाओं में प्रशंसनीय जो विशाल मन है उस अपने मन से जो धन दृढ़ हो गए हैं उनको भी हमारे बल बढ़ाने के लिये हमें दे।^६

१. साम०, २/१२/१०

२. वही, २/४/१०

३. वही, पृ०—५६

४. क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।

अलर्षि युध्म र्वजकृत्पुनंदर प्र गायत्रा अगासिषु।—वही, २/८/६

५. वही, ८/६/१४

६. वही, पृ०—१६०

सोम को मन का स्वामी कहा गया है—

इन्द्राय सोम पातवे मदाय परि षिच्यसे ।

मनश्चिन्मनसस्पतिः ।।^१

अर्थात् हे सोम! मन का ज्ञाता तू मनों का स्वामी है। इन्द्र के पीने के लिये तथा उसके आनन्द के लिये तू बर्तन में गिरता है।^२

एक मन्त्र में मन को कल्याणमय विचार करने वाला बनाने की अग्नि से कामना की गई है—

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहिः ।

अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टये ।।^३

हे अग्ने! युद्ध में हमारे मन को कल्याणमय विचार करने वाला कर। जितने युद्ध में शत्रु पराभव तू करता है। युद्ध करने वाले शत्रु की सुदृढ़ सेना का भी तू पराभव कर, हम अपने कल्याण के लिये तेरी अराधना करते हैं।^४

एक अन्य मन्त्र में इन्द्र से मन को उत्साहित करने की प्रार्थना की गई है—

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वनां मामकानां मनांसि ।

उद्धृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ।।^५

१ साम०, १३/२/५

२ वही, पृ०—२५१

३ वही, १५/३/१०

४ वही, पृ०—२८६

५ वही, २१/४/१

हे धनवान् इन्द्र! हमारे शस्त्रधारी वीरों का उत्साह बढ़ा, हमारे बलवान् सैनिकों का मन उत्साहित कर। हे शत्रुओं को मारने वाले इन्द्र! हमारे घोड़ों की गति बढ़ा, तथा विजयी होकर आने वाले हमारे रथों के शब्द सुनाई देवें।^१

अधोलिखित मन्त्र में शत्रु के चित्त को मोहित करके उनको शोकाकुल करने की प्रार्थना की गई है—

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्ये परेहि।

अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्।।^२

हे पाप के देवता! तू मुझसे दूर हो जा, इन शत्रुओं के चित्त को मोहित कर और उसके अंगों को जकड़ दे। उन शत्रुओं पर आक्रमण कर। उनके हृदयों को शोक से जला दे। हमारे शत्रु गहरे अन्धकार के कारण व्याकुल हो जावें।^३ मन्त्र का तात्पर्य यह है कि दुष्प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है तथा ईर्ष्या के कारण उसका हृदय शोकयुक्त होकर अन्धकार में गिरता चला जाता है।

अथर्ववेद में मन

अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में 'मन' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—'तद्वाचा त्रय्या विद्यया एकं पक्षं संस्क्रुते। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति।'^४ यज्ञ के सम्पादन में वाणी तथा मन दोनों का योगदान है। प्रथम तीन वेद वाणी मात्र हैं, अथर्ववेद मन है। वाणी से जीवन के बाह्य पक्ष का परिष्कार होता

१. साम०, पृ०—३८७

२. वही, २१/५/१

३. वही, पृ०—३८७

४. ऐ०ब्रा०, ५/३२

है तो मन से अन्तःकरण निर्मल बनता है। 'स वा एष त्रिभिर्वैदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते।' ब्राह्मण ग्रन्थों के इन मन्त्रों से व्यास देव का यह कथन कि 'अथर्ववेद—अध्यात्मवेद' है, स्वतः सिद्ध हो जाता है।

अथर्ववेद के कई मन्त्रों में मन को दैवी बनाने की प्रार्थना की गई है—

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।

वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।^१

हे वाणी के अधिपति, निखिल वाङ्मय के स्वामी, तुमने बहुत कुछ सुना दिया है, विविध शाखाओं वाले ज्ञान का प्रवचन किया है। अब ऐसी कृपा करो जिससे यह सुना हुआ मेरे अन्दर बस जाए। तुम वासक शक्तियों के भी पति हो, स्वामी हो, रक्षक हो, दैवी मनन तुम्हारा शाश्वत साथी है। यदि तुम आ गये और मेरे अन्दर निरन्तर रमण करने लगे, तो मेरा मन भी दैवी बन जाएगा और अपने सुने हुए ज्ञान को अपने अन्दर रमा सकेगा।^२

सायण के मतानुसार मन सब इन्द्रियों के ऊपर अनुग्रह करता है और सत्त्वगुण को परिणाम रूप होने से स्वच्छ है। अतः मन को प्रकाशमय कहा गया है।^३

अधोलिखित मन्त्र में देवसंबन्धी मन से हम वियुक्त न हों ऐसी कामना की गई है—

सं जानामहै मनसा सं चिकित्सा मा युष्महि मनसा दैव्येन।

मा घोषा उत् स्थुर्बहुलेविनिर्हतेमेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते।^४

१. गो०, ब्रा०, ३/२

२. अथर्व०, १/१/२

३. अ०सं०, पृ०—११६

४. वही, पृ०—११६—१७

५. वही, ७/५/१/२

अर्थात् हम अपने मन से दूसरे के मन को संयुक्त करें अर्थात् उसका मन जिस प्रकार हमारे विषय में अनुकूल होवे, ऐसा करते हैं। किसी बात को जानने पर हम मिलकर कार्य करने वाले होवें और देवसंबन्धी मन से हम वियुक्त न होवें, अर्थात् प्रतिकूल विषय से उत्पन्न हुए विक्षेप की शून्यता के कारण हमारा मन सदा देवताओं के विषय में रमण करता रहे और बड़ी भारी कुटिलता के कारण मन को उच्चाटित करने वाले घोष न होवें, दिन आदि के आने पर इन्द्र की अशनिरूपा वाणी हम पर न गिरे।^१

एक मन्त्र में कहा गया है कि मन से जो संकल्प किया जाता है। वह देवताओं को प्राप्त होता है—

मनसा संकल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।

ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ।।^२

अर्थात् वह मन से संकल्प करती है और वह देवताओं को प्राप्त होता है तब ब्राह्मण वशा की याचना करने के लिये समीप में आते हैं।^३

अनेक मन्त्रों में शत्रु के मन की हिंसक वृत्तियों का नाश करने की कामना की गई है,^४ क्योंकि मन की हिंसक वृत्तियों का नाश करके ही सुख की प्राप्ति हो सकती है। एक मन्त्र में संग्राम के लिये उद्यत शत्रुओं के मन में जो विचार भर रहे हैं उन सबको नष्ट करने की इन्द्र से कामना की गई है—

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।

अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ।।^५

१. अ०सं०, पृ०—१८४

२. वही, १२/४/१/३१

३. वही, पृ०—११३

४. वही, २/१/२/५; २/३/२/२; २/३/२/३; १/४/४

५. वही, ३/१/२/४

विरुद्ध संकल्पो! तुम इन शत्रुओं के मन में जाओ और हे शत्रुओं के मन! तुम मोह में पड़ जाओ, हे देवताओं! तुम इन शत्रुओं के मन में अनेक प्रकार के विरुद्ध संकल्पों को उपजाने के लिये यहाँ से उनके पास जाओ और उनके चित्तों को मोह में डालो और हे इन्द्र! संग्राम के लिये उद्यत शत्रुओं के चित्त में जो विचार भर रहे हैं, उन सबको आप नष्ट कर दीजिए।^१

पुरुषों के परस्पर विरुद्ध मनों को एक विषय से प्रसन्न होने वाले विरुद्धता रहित करने को कहा गया है—

सं वो मंनासि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥^२

हे विरुद्ध मन वाले पुरुषों! तुम्हारे परस्पर विरुद्ध मनों को एक विषय से प्रसन्न होने वाले विरुद्धता रहित करता हूँ। पहिले जो तुम परस्पर के विरुद्ध कर्म करते रहते थे उन तुमको अनुकूल करता हूँ।^३

एक मन्त्र में विमनस्य पुरुषों के प्रतिकूल मनो को स्वाधीन करने को कहा गया है—

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥^४

१. अ०सं०, पृ०—६४

२. वही, ३/२/३/५

३. वही, पृ०—१०८

४. वही, ३/२/३/६

हे विमनस्य पुरुषों! तुम्हारे प्रतिकूल मनों को मैं अपने मन से स्वाधीन करता हूँ तथा तुम भी मेरे चित्त के अनुकूल हुए चित्तों के साथ आओ, मेरे अधीन कामों में तुम अपने मन को लगाओ और मेरे स्वीकृत मार्ग पर चलने की इच्छा रखकर तुम आओ।^१

अथर्ववेद के कई मन्त्रों में शोभन मन की कामना की गई^२

सद्भीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवनेन सर्वान् ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वा अस्तु ।।^३

मैं तुमको एक—सा कार्य करने में प्रवृत्त और समान मन वाले करता हूँ तथा वशीकरण कर्म के द्वारा तुम सबको मैं वश में करता हूँ, स्वर्ग में स्थित अजर—अमर करने वाले अमृत की रक्षा करने वाले इन्द्र आदि देवता जैसे शोभन मन वाले रहते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातःकाल आदि सब समय तुम्हारा मन शोभन रहे।^४

अधोलिखित मन्त्र में प्रकाशमान चन्द्रदेव से मन का आह्वान करने की प्रार्थना की गई है—

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।

सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोतं पृथिव्याः शरीरम् ।

सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ।।^५

१. अ.सं०, पृ०—१३३

२. वही, ३/४/५/६; ६/६/१/३

३. वही, ३/६/५/७

४. वही, पृ०—१४५

५. वही, ५/३/११/८

बड़े (प्रकाश वाले चन्द्रदेव) से मैं मन का आह्वान करता हूँ, मातरिश्वा (वायु) देव से मैं प्राण और अपान की प्रार्थना करता हूँ, सूर्यदेव से चक्षु की प्रार्थना करता हूँ, अन्तरिक्ष से श्रोत्र की पृथिवी से शरीर की और मन से युक्त सरस्वती से वाणी की प्रार्थना करता हूँ।^१

एक मन्त्र में पाप में आसक्ति रखने वाले मन को अन्यत्र जाने की प्रार्थना की गई है—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।

परेहि न त्वा कामयं वृक्षान् वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ।^२

अर्थात् हे पापासक्त मन! हमसे दूर स्थान में जा अर्थात् हमको दुःस्वप्न न दिखा, क्योंकि—तू अशोभन बातों को प्रकाशित करता है, इस कारण तू दूर जा मैं तुझको नहीं चाहता और जाकर जिसमें बहुत से वृक्ष हैं ऐसे वन में घुस जा। हमको पीड़ा मत दे। मेरा मन घर में स्थित स्त्री—पुत्र आदि अनुकूल जनों में और गौओं में शोभन भाव से रहे।^३

मन के विषय में अन्यत्र कहा गया है—

“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेनिर्विषयं मतम्” ।।^४

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है, विषयासक्त मन बन्धन का कारण होता है तथा विषयासक्तिशून्य मन मुक्ति का कारण होता है। अतः वेदों में मन को विषयासक्ति से शून्य रखने की प्रार्थना की गई है।

१. अ०सं०, पृ०—५७

२. वही, ६/५/२/४

३. वही, पृ०—३४०

४. मैत्रे०उ०, ६/३४

मन की तीव्रगति का उल्लेख भी विभिन्न मन्त्रों में हुआ है—

यथो मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।

एवा त्वं कासे प्र पत मनसोनु प्रवाय्यम् ।^१

बुद्धि से जानने में आने वाले दूर पर स्थित विषयों मन जिस प्रकार शीघ्रतायुक्त होकर गिरता है, इसी प्रकार हे कासश्लेष्मरोगरूप कृत्ये! तू मन के वेग से गन्तव्यस्थान की अवधि के समान दूर जा अर्थात् मन के वेग के साथ इस पुरुष के शरीर से दूर देश को चली जा।^२

निम्नलिखित मन्त्र में एकचित्त अथवा एक भाव—युक्त होकर कर्मों को करने के लिये प्रेरणा प्रदान की गई है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ।।^३

हे सामनस्य को चाहने वाले पुरुषों ! तुम्हारा संकल्प एक—सा हो और संकल्पों को उत्पन्न करने वाले हृदयकमल के भीतर रहने वाले तुम्हारे अन्तःकरण एक से हों, तथा सुखादि का प्रत्यक्ष कराने वालों तुम्हारी मन नाम वाली इन्द्रिय एकरूप हो जाए, जिस प्रकार तुम्हारा सब कार्य शोभनरीति से साथ—साथ हो जिसके लिये मैं सामनस्य कर्म करता हूँ।^४

१. अ०, ६/११/१०६/१

२. अ०सं०, पृ०— ५५६

३. वही, ६/७/६४/३

४. वही, पृ०—४२४

देवता भी एकचित्त एक—भावयुक्त कर्मों को करने पर बल देते हैं—

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः ।

अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ।।^१

हे एक चित्तता को चाहने वाले मनुष्यों! जिस कर्म से तुम्हारी ज्ञान की मन इन्द्रिय श्रेष्ठ ज्ञान को उत्पन्न करने वाली हो, उस कर्म को मैं करता हूँ और तुम्हारे हृदय को भी समान ज्ञान को उत्पन्न करने वाला करता हूँ और सौभाग्यदायक भगदेवता का जो श्रम से किया हुआ तप है उससे मैं तुमको समान ज्ञान वाला करता हूँ।^२

एक मन्त्र में 'मन से पवित्र किये हुए पदार्थों की आहुति देना चाहिये' ऐसा कहा गया है—

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ।।^३

अर्थात् हे सर्वज्ञ ईश्वर! तू हमारे सब कर्मों को जानता है। इस आत्मा के सात मुखों में मन और हृदय से पवित्र किये हुए पदार्थों का हवन करता हूँ, यह हमारा हवन तू स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर।^४

ब्राह्मण ग्रन्थों में मन

मन के सम्बन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया गया है। शतपथ—ब्राह्मण

१. अ०सं०, ६/८/६७/२

२. वही, पृ०—४५७

३. वही, ४/८/३६/१०

४. वही, पृ०—३४०

में कहा गया है—‘वागेवर्ग्वेदः’ वाक् ऋग्वेद है, ‘प्राणः सामवेदः’ प्राण सामवेद है, ‘मन ही यजुः है—‘मन एव यजुः’ ।^१ यजु का सम्बन्ध गति से है—‘सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्’ ।^२ मन भी गतिशील है—‘यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति । दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पस्तु । ।^३ मन से अधिक गतिशील कुछ भी नहीं है—‘मनो वाव भुवनेषु जविष्ठम्’ ।^४ मन का सम्बन्ध यजुर्वेद से है और यजुर्वेद का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है । इसलिये मन अन्तरिक्षलोक तथा अन्तरिक्ष के देवता चन्द्रमा से सम्बन्धित है—‘मनोऽन्तरिक्षलोकः ।^५ तथा ‘मनश्च चन्द्रमा’ ।^६

ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक एवं उपनिषदों में मन के अनेक नाम प्राप्त होते हैं जो मन के कार्यों के भी सूचक हैं । शतपथ—ब्राह्मण में उल्लिखित काम, सङ्कल्प, जिज्ञासा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय ये सब मन से सम्बन्धित हैं ।^७ ऐतरेयारण्यक में मन के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं—‘यदेतद्दृढं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसु कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ।^८ शतपथ ब्राह्मण में ऋग्वेद के ‘नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्’^९ मन्त्रांश की व्याख्या करते हुए ऋषि कहते हैं—‘सृष्टि के आरम्भ में यह जगत् न असत् था न सत् । तब

१. श०ब्रा०, १४/४/३/१२;

२. वही; ४/६/७/५; जै०उ०, १/२५/६

३. तै०ब्रा०, ३/१२/६/१

४. का०सं०, १३४/७/८

५. जै०ब्रा०, १/२०

६. श०ब्रा०, १४/४/३/११;

७. जै०उ०, १/२८/५

८. कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृति हीर्षीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव—श०ब्रा० १४/४/३/६

९. ऐ०आ०, २/६

१०. ऋ०, १०/१२६/१

केवल यह मन था।^१ तैत्तरीय संहिता में कहा गया है—जो कुछ प्राप्त नहीं है वह मन से ही प्राप्त किया जाता है।^२ मन के वश में सब कुछ है।^३

मन का वाक् से गहरा सम्बन्ध है। मन और वाक् दो धुर हैं। मन से वाक् उत्पन्न होती है, मन से ही वाक् संचालित होती है—‘अथ द्वे एव धुरौ मनश्चैव वाक् च। मनसो हि वाक् प्रजायते सा मनोनेत्रा वाग्भवति’।^४ मन अपरिमित है—‘अपरिमिततरं हि मनः परिमितरेव हि वाक्’।^५ मन ही वाक् को धारण करता है।^६ पहले मन है बाद में वाक्।^७ मन वाक् की अपेक्षा तीव्रगति वाला है।^८ वाक् और मन का दिव्यमिथुन है।^९ वाक् और मन का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वाक् को ही मन कह दिया गया है।^{१०} दोनों की तुलना करें तो वाक् मन से छोटी है।^{११} वाक् मन की शक्ति है।^{१२}

जिस प्रकार मन का वाक् से सम्बन्ध है, प्राण से भी उसी प्रकार इतना गहरा सम्बन्ध है। इसलिये मन को प्राणों का अर्धभाग बताया गया है।^{१३} मन ही प्राण में प्रतिष्ठित है।^{१४} मन से ही प्राण धारण किया जाता है।^{१५} प्राण मन के पीछे चलते हैं।^{१६}

१. नैव वाऽऽदमग्रेऽसदासीनैव सदासीत्। आसीदिव वाऽऽदमग्रे नैवासीत्तद्ध तन्मन एवास।—श० ब्रा०, १०/५/३/१
२. मनसा ह्यनाप्तमाप्यते।—तै०सं०, २/५/११/४;
३. मनसो वशे सर्वमिदं बभूव, वही, ३/१२/३/३
४. जै०ब्रा०, १/३/२०;
५. श०ब्रा०, १/४/४७
६. मनसा हि वाग् धृता—तै०सं०, ६/१/७/२;
७. मनो वै पूर्वमथ वाक्—जै०ब्रा०, १/१२८
८. मनो वै वाचः क्षेपीय—का०सं०, १६/३/१०
९. वाक् च वै मनश्च देवनां मिथुनम्—ऐ०ब्रा०, ५/२३
१०. वागिति मनः—जै०ब्रा०, ४/२२/११
११. वाग्वै मनसो हसीयसी—श०ब्रा०, १/४/४/७
१२. मनसो रेतो वाक्—ऐ०ब्रा०, २/१/३
१३. अर्धभाग वै मनः प्राणानाम्—षड्विंश ब्रा०, १/५/१
१४. मनः प्राणे प्रतिष्ठितम्—जै०ब्रा०, ३/३७१
१५. मनसा हि प्राणो धृतः का०सं० २७/१
१६. मनो वा अनु प्राणाः—जै०ब्रा०, १/१६

इसलिये मन प्राणों का अधिपति है—‘मनो वै प्राणानामधिपतिः’^१ वाक् पूर्वरूप है, मन उत्तररूप है। प्राण दोनों को जोड़ने वाला है—‘वाक् पूर्वरूपं मन उत्तररूपं प्राणः संहिता’^२ मन की शक्ति अनन्त है। यह सृष्टि करने वाला भी है और विनाश करने में भी समर्थ है इसलिए मन को प्रजापति व ब्रह्म कहा गया है—‘प्रजापतिर्वै मनः’^३ मन एवं ब्रह्म^४ प्रजापति के पाँच अंग मर्त्य (विनाशशील) है—लोम, त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा। अन्य पाँच अंग जैसे—मन, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र अमर है।^५

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—प्रजापति ने मन से ही पृथिवी हो घेरा है—‘मनसा वा इमां प्रजापतिः पर्यगृह्णादि’^६ प्रजापति ने मन से ही यज्ञ का विस्तार किया—‘मनसा वै प्रजापतिर्यज्ञमतनुत’^७

शतपथ ब्राह्मण में मन को ग्रह कहा गया है। कामरूपी अतिग्रह से गृहीत होकर मन से ही मनुष्य कामना करता है।^८ मन न छोटा है, न बड़ा। वह जिस विषय का चिन्तन करता है, उसी के आकार का हो जाता है। तिल का चिन्तन करते हुए तिल के आकार का तथा विश्व का चिन्तन करते हुए वह विश्व के आकार का हो जाता है। मन का एक गुण ‘काम’ है। अपने बड़ों के प्रति श्रद्धा का भाव, छोटों के प्रति वात्सल्य, बराबर वालों के प्रति स्नेह तथा जड़ पदार्थों के प्रति काम—ये मन के गुण हैं। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है—‘कामः संकल्प। विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा

१. श०ब्रा०, १४/३/२/३

२. ऐ०आ०, ३/१/१

३. कौ०ब्रा०, १०/१/२६ ; तुलनीय—‘मनो हि प्रजापतिः’, सा०ब्रा०—१/१/४

४. कौ०ब्रा०, १७/७ ; तुलनीय—गो०ब्रा०, २/११

५. तदेता वाऽअस्य ताः। पञ्च मर्त्यास्तान् ऽआसंल्लोम त्वङ्मांसमस्थि मज्जाऽथैता ऽअमृता मनो वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम्।—श०ब्रा०, १०/१/३/४

६. मै०सं०, १/८/७

७. वही, १/४/१०

८. मनो वै ग्रहः। स कामेनातिग्रहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते। श०ब्रा० १४/६/२/७

धृतिरधृतिर्हीवीर्भीरित्येतत्सर्वं मनऽएव तस्मादपि पृष्ठतऽउपस्पृष्टो विजानाति'।^१
वेदानुसार कोई पदार्थ जड़ नहीं है, इसलिये मन सर्वव्यापक है। मन ही विद्याबल से ज्ञान तथा अविद्याबल से कर्म बन जाता है। ज्ञान कर्म को प्रकट करता है। कर्म मर्त्य है। ज्ञान, अमृत एवं मन इन दोनों का सन्धिस्थान है। सृष्टि के आरम्भ में मन की कामना ही प्रादुर्भूत होती है। मन अन्न से बना है—'अन्नमयं हि सोम्य! मनः।' अन्न की सात्त्विकता पर मन की सात्त्विकता निर्भर करती है। बलों की अधिकता से मन का स्थूल रूप बढ़ता है। अविद्या, अस्मिता, आसक्ति और अभिनिवेश—मन को स्वच्छन्द बनाते हैं। बुद्धि के चार धर्मों में से ज्ञान अविद्या का, ऐश्वर्य अस्मिता का, वैराग्य आसक्ति का तथा धर्म अभिनिवेश का नियन्त्रण करता है।^२

काम मन का सहज धर्म है। वह प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में है, इसलिये जो मन को वश में कर लेता है, वह सारे संसार को वश में कर लेता है। आदिशंकराचार्य के अनुसार—जगत् जितो केन? मनो हि येन। काम के सम्बन्ध में वेद का कहना है कि सर्वप्रथम काम उत्पन्न हुआ, न उसे देव जान सकते हैं, न पितर, न गन्धर्व। वह अत्यन्त महान् है—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि।।^३

मन की कामना प्राणों में एक ताप उत्पन्न कर देती है। यह ताप के कारण प्राणों में गति उत्पन्न होती है। जब तक मन का सङ्कल्प दृढ़ न हो तब तक यज्ञ नहीं

१. शोब्रा०, १४/४/३/६; पृ०—१८७३—७४।

२. वेद—विज्ञान—वीथिका, पृ०—१३६

३. अथर्व०, ६/२/१६

किया जा सकता।^१ मन का मनन ही घनीभूत होकर मानों मन्त्र बन गया है। इसलिये यज्ञ की कोई क्रिया बिना मन के नहीं हो सकती। मन में और मन्त्र में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि शतपथ ब्राह्मण में मन को यजुर्वेद बताया गया है—‘मनो वै यजुर्वेदः’।^२ प्रत्येक निर्माण के मूल में मन है। इसलिये मन को सामविधान ब्राह्मण के आरम्भ में ही प्रजापति कहा गया है—‘मनो हि प्रजापतिः’।^३ चञ्चल चित्त से साधारण कार्य भी नहीं किया जा सकता—‘न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चनसम्प्रति शक्नोति कर्तुम्’।^४ फिर यज्ञ करना तो कदापि सम्भव नहीं है।

साधारण कार्य में हम वाक् का व्यवहार करते हैं अतः यदि मन साथ न भी हो तो कार्य कदाचित् यांत्रिक रूप से किया जा सकता है, किन्तु यज्ञ में हमें प्राणों से व्यवहार करना है। प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उससे अधिक सूक्ष्म केवल मन ही है। इसलिये बिना मन के यज्ञ कदापि फलदायी नहीं हो सकता।^५ इसलिये शतपथ ब्राह्मण में मन को मैत्रावरुण कहा गया है—‘मनो मैत्रावरुणः’।^६ जैमिनीय ब्राह्मण में मन को कामनाओं से भरा हुआ सरोवर कहा गया है—‘स एष हृदयः कामानां पूर्णो यन्मनः’।^७ सब सर्जन के मूल में यह कामना रहती है। यज्ञ के आरम्भ में जब हम सङ्कल्प करते हैं तो मन की इस कामना को ही अभिव्यक्त करते हैं।

ये प्राण अथवा देव, मन से उत्पन्न हुये हैं, मन से युक्त हैं—‘एते वै देवा मनुजाता मनोयुजो यदिमे प्राणाः’।^८ यह भी कहा गया है—‘तस्मादादुः। मनो देवा

१. युक्तेन हि मनसा यज्ञस्तायते—मै०सं०, ३/१/१

२. श०ब्रा०, ७/३/१/४०

३. सां०ब्रा०, १/१/४

४. श०ब्रा०, ६/३/१/१४

५. वेद—विज्ञान—वीथिका, पृ०—१३७

६. श०ब्रा०, १२/८/२/२३

७. जै०ब्रा०, १/५८/३/३

८. मै०सं०, ३/६/६

मनुष्यस्याजानन्तीति मनसा संकल्पयति तत्प्राणमपि पद्यते प्राणो वातं वातो देवेभ्य आवष्टे तथा पुरुषस्य मनः।^१ अर्थात् 'देव मनुष्यों की मन की बात जानते हैं'। जो संकल्प मन से उठता है वह प्राण तक आता है। प्राण से वायु तक। वायु देवताओं को बता देता है कि मनुष्य के मन में क्या है।^२ अतः ये देवप्राण मनुष्य के मन को जान लेते हैं। यज्ञ को प्राणविद्या कहें या देवविद्या एक ही बात है। ये प्राण जब मन से जुड़ते हैं तो इन प्राणों का कर्म (क्रतु) दक्ष (कुशल) हो जाता है। वह कुशल कर्म ही यज्ञ है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—'इमे वै प्राणाः। मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवः'।^३ मन और प्राण का यह सम्बन्ध इतना गहरा है कि षड्विंश ब्राह्मण में मन को प्राण का आधा भागीदार बताया गया है—'अर्धभाग् वै मनः प्राणानाम्'।^४ वाक् स्वयं गति नहीं कर सकता। प्राण ही उसे गति देता है, इसलिये प्राण ही वाक् का सार है—'एतद्वै वाचः सत्यं यत्प्राणः'।^५ शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—'मनो वै प्राणानाम—धिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणा प्रतिष्ठिताः'।^६ मन प्राणों का अधिपति है, मन में समस्त प्राण प्रतिष्ठित हैं।^७ अतः मन से ही व्यक्ति प्राणों को वश में कर सकता है—'मनसैव प्राणमाप्नोति'।^८

प्राण मन तथा पदार्थ के मध्य की कड़ी है। प्राण मानो एक रस्सी है जिसके दो सिरो में से एक सिरे से मन बंधा है, दूसरे सिरे से पदार्थ तथा इस प्रकार मन और पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। मन सूक्ष्म है, पदार्थ स्थूल, ये दोनों सीधे आपस

१. श०ब्रा०, ३/४/२/६

२. वही, पृ०—४१५

३. वही, ३/२/२/१३

४. षड्विंश ब्रा०, १/५/१

५. जै०ब्रा०, २/४/२५

६. श०ब्रा०, १४/३/२/३

७. वही, पृ०—१८५३

८. मै०सं०, ४/५/५

में नहीं जुड़ सकते। प्राण, जो कि न बहुत सूक्ष्म है, न बहुत स्थूल, मध्यवर्ती बनकर इन दोनों को जोड़ देता है—‘प्राण एव रज्जुः। प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते।’

प्राण के माध्यम से मन का पदार्थ से जुड़ने का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—मन की कामना प्राण को गति देती है तथा प्राण की गति वाक् अर्थात् पदार्थ का निर्माण करती है। मन की कामना यज्ञ की परिभाषा में सङ्कल्प है। प्राण में गति देवों की स्तुति से होती है तथा उसी गति से पदार्थ का निर्माण अपूर्वोत्पत्ति है। यजमान के सङ्कल्पानुकूल अपूर्वोत्पत्ति हो जाये इसी में यज्ञ की सफलता है। ऋत्विज यह जानता है की किस सङ्कल्प की पूर्त्यर्थ किस प्राण अर्थात् देव की किस मंत्र में स्तुति की जाए कि वह प्राण अथवा देव उस सङ्कल्पानुकूल गति करके अभीष्ट पदार्थ को दे दे। ऋत्विज का यही ज्ञान विज्ञान है। जिस ऋत्विज को इस यज्ञविज्ञान का समीचीन ज्ञान नहीं उसके द्वारा सम्पादित यज्ञ अभीष्ट फल नहीं देगा।^१

ऐतरेय आरण्यक ने चित्त को वाक् या अन्न में परिणत होने को यज्ञ कहा है, किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि वाक् का चित्त में परिणत होना भी यज्ञ है। प्राण का भूत में परिणत होना अधिभूत यज्ञ है, किन्तु अन्य अथवा वाक् का मन में परिणत होना अध्यात्मयज्ञ है। यज्ञ के इसी रूप को ध्यान में रखकर यज्ञ की एक दूसरी परिभाषा दी है—‘अन्नोर्क्प्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः’।^२ अर्थात् अन्न का ऊर्क् और प्राण में परिणत होना यज्ञ है। ऊर्क् का अर्थ रस है। अन्न रस में परिणत होता है और रस प्राण में। इसी प्रक्रिया का विस्तार आयुर्वेद में किया गया है—रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थनो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः।^३

१. श०ब्रा०, २/१/४/२

२. वेद विज्ञान—वीथिका, पृ०—१४०

३. श०ब्रा०, के पं० मोतीलाल शास्त्रीकृत विज्ञान भाष्य, प्रथम खण्ड, पृ०—३६८ पर उद्धृत।

४. च०सं०, ५/१४

डॉ० दयानन्द भार्गव ने अपनी पुस्तक वेद विज्ञान वीथिका में वैदिकग्रन्थों के अनुसार मन के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—मन निर्लेप है, क्योंकि कोई विषय इसके साथ स्थायी रूप से नहीं जुड़ता है। इसमें विषय आते जाते रहते हैं। मन आकाश के समान असङ्ग रहता है जिस प्रकार आकाश में सब पदार्थ रहते हैं, किन्तु आकाश किसी पदार्थ से जुड़ता नहीं है उसी प्रकार मन में सब विषय हैं, किन्तु मन किसी विषय से जुड़ता नहीं है। मन आकाश के समान निष्क्रिय भी है। पदार्थ उसमें आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु वह उन पदार्थों की क्रिया के साथ स्वयं क्रिया नहीं करता। वस्तुतः क्रिया प्राण में होती है, किन्तु प्रतीत होता है कि वह मन में हो रही है।^१

उपनिषदों में मन

उपनिषदों में अचेतन व्यापार का कारण 'प्राण'—तत्त्व को कहा गया है तथा चेतन व्यापार का कारण 'मनस्'—तत्त्व को। लौकिक अस्तित्व के पूरे काल में प्रत्येक जीव इन दो उपाधियों से युक्त रहता है। इन दो अपेक्षाकृत उपाधियों के अतिरिक्त भौतिक शरीर भी एक है और केवल यही हर जन्म में बदलता है। शरीर, प्राण तथा मनस्^२ सामुहिक रूप में 'सांसारिक निवास—स्थान' के समान है। जीव के व्यापार के चेतन पक्ष को मनस् दस इन्द्रियों की सहायता से चलाता रहता है।^३ इन्द्रियाँ मन के अधीनता में रहकर कार्य करती हैं, मन एक केन्द्रिय इन्द्रिय है जिसके मुख्य कार्य हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना और कर्म करना। मन के बिना इन्द्रियाँ निष्प्रयोजन हैं।^४ यही कारण है कि मन को प्रधान इन्द्रिय कहा गया है। मन अथवा प्रज्ञा रूप साधन के

१. वेद—विज्ञान—वीथिका, पृ०—८८

२. यदि मनस् की तीन अवस्थाओं—चेतन, आत्मचेतन तथा आत्मातिशय की अवस्थाओं को अलग—अलग गिना जाये, तो सब मिलाकर कोश सिद्धान्त में पाँच कोश हो जाते हैं।

३. भारतीय—दर्शन की रूपरेखा, पृ०—६७

४. भारतीय—दर्शन (भाग—१), पृ०—२०६

अभाव में वाणी किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती। ऐसी अवस्था में कहा जाता है 'मेरा मन अमुक ओर था, मैं इस बात को समझ नहीं पाया'। प्रज्ञा (मन) के अभाव में आँखें किसी आकृति का ज्ञान नहीं करा सकती। प्रज्ञा-हीन जिह्वा अन्न-रसों का स्वाद नहीं ले सकती। प्रज्ञाविहीन हाथ किसी कर्म का ज्ञान न होने से निष्क्रिय रहते हैं। प्रज्ञाहीन देह किसी भी सुख-दुःख का अनुभव करने में समर्थ नहीं है। प्रज्ञाहीन उपस्थ प्रजनन क्रिया नहीं कर सकता। प्रज्ञा-रहित पाँव जाने आने का ज्ञान नहीं रख सकते। प्रज्ञा के बिना कोई बौद्धिक कार्य भी सिद्ध नहीं हो सकता।^१

मन की विज्ञान, अहंकार इत्यादि अनेक शक्तियों का उल्लेख है, किन्तु साथ ही उपनिषद् मन की एकता पर बल देता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी शक्तियों की सूची दी गई है, लेकिन साथ यह भी कहा गया है कि यह सब मन ही है—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाघृतिरघृतिर्हीर्घीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति'।^२ मन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाहर के संस्कारों को प्राप्त करके उनमें समन्वय लाता है और आवश्यकता पड़ने पर पाँच कर्मेन्द्रियों में से एक या अधिक की सहायता से कर्म में प्रवृत्त भी होता है। मनस् का इन दो प्रकार की इन्द्रियों से जो सम्बन्ध है उसकी तुलना उस सम्बन्ध से की गई है—जो मस्तिष्क का संवेदी तन्त्रिकाओं और गति-तन्त्रिकाओं से है।^३

अन्तःकरण की संकल्पविकल्पामक वृत्ति को ही मन कहते हैं। चित्त और अहंकार का मन और बुद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है।^४ संशयरूप वृत्ति मन है।

१. कौ०उ०, ३/७; तुलनीय—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति'।—बृ०उ०, १/५/३

२. वही, १/५/३

३. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ०-६७

४. मनोबुद्ध्योश्चित्ताहंकारौ चान्तर्भूतौ।—त्रिशिखब्रा०उ०, ६

निश्चयात्मिका बुद्धि है।^१ बृहदारण्यकोपनिषद् में मन को विजिज्ञास्य कहा गया है—‘यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति’।^२ अर्थात् जो कुछ विजिज्ञास्य अर्थात् विस्पष्ट जानने के लिये इष्ट है, वह सब मन का रूप है, क्योंकि मन ही संदेह योग्य स्वरूप वाला होने के कारण विजिज्ञास्य है। मन व्यक्ति का विजिज्ञास्य होकर उसकी रक्षा करता है, अर्थात् वह विजिज्ञास्यस्वरूप से ही उसके अन्नत्व को प्राप्त होता है।^३ छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—जो अणिष्ठतम है वही मन है—अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मां सं योऽणिष्ठस्तन्मनः।^४ मनुष्य जो भी अन्न खाता है, वह जठराग्नि के द्वारा पचाए जाने पर तीन भागों में विभक्त होता है। खाये हुए अन्न का स्थूलतम भाग पुरीष (मल) और मध्यम अंश मध्यम धातु बनता है, अन्न रसादि क्रम से परिणत होकर मांस हो जाता है। मन की प्रकृति उसकी पाचन क्रिया पर निर्भर होती है। अन्न का जो अणिष्ठ अर्थात् सूक्ष्मतम अंश है उसी से मन का निर्माण होता है।^५

मन को अन्नमय कहा गया है—‘अन्नमयं हि सोम्य मनः’^६ जब हम दही को मथते हैं तो उसका जो सूक्ष्म भाग होता है वह नवनीत के रूप में ऊपर आ जाता है। वही दही का सार होता है। उसी से घृत बनता है। उसी प्रकार खाये हुये अन्न का जो सूक्ष्मतम भाग है वह मथानी की भांति जठराग्नि द्वारा मथे जाने पर साररूप में ऊपर आ जाता है वही मन होता है।^७

१. पंचदशी, १/२०

२. बृ०उ०, १/५/६

३. वही, (शांकरभाष्य), पृ०—३४८

४. छा०उ०, ६/५/१

५. वही, पृ०—५६६

६. वही, ६/६/५

७. दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स उर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति। एवमेव खलु सोम्यान्नस्याशयमानस्य योऽणिमा स उर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति।—वही, ६/६/१—२

ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ—‘चन्द्रमा मनो भूत्वाहृदयं प्राविशत्’ ।^१ मन और हृदय एक दूसरे के पर्याय हैं। हृदय और मन से वाच्य अन्तःकरण ही सब प्रकार के ज्ञान का साधन है। मन उसका दिव्य नेत्र है—‘मनोऽस्य दैवं चक्षुः’ ।^२ इन्द्रियों से उत्कृष्ट होने के कारण मन को दिव्य (दैव) कहा गया है ।^३

मन त्रिकालदर्शी है। मन का विषय कल्पना और चिंतन है। मन भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों का द्रष्टा है ।^४ शरीर में ससीम रहते हुए भी मन देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है। मन लोक से परलोक तक, पृथिवी से पाताल तक गमन करता है ।^५

मन को आत्मा का शरीर कहा गया है—‘यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः’ ।^६

मन का रेतस् ‘काम’ है। सृष्टि का आरम्भ ‘काम’ से हुआ, यही काम मन की विभूति है ।^७ मूलतत्त्व में सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव हुआ ।^८ अहं भाव अर्थात् मन ही सृष्टि का आदि बीज है ।^९ मनस्थ काम संसरण का मूल कारण है। जो जैसी कामना करता है वह उन कामनाओं के वशीभूत होकर उन-उन स्थानों में जन्म लेता है ।^{१०} जैसी कामना होती है, वैसा ही ‘क्रतु’ संकल्प होता है। जैसा संकल्प होता है वैसा ही कर्म

१. ऐ०उ०, २/१/४

२. छा०उ०, ८/१२/५

३. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।—कठ०, १/३/१०

४. यत् ते भूतं च भव्यं च, मनो जगाम दूरकम् ।—ऋ०, १०/५/८/१२

५. यत् ते दिनं यत् पृथिवीं मनो जगाम ।—वही, १०/५/८/२

६. बृ०उ०, ३/७/२०

७. कामो जज्ञे प्रथमो—अथर्व०, ६/२/१६

८. तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति—बृ०उ०, १/२/१

९. अस्मीति प्रत्यथादन्तरहंकारश्च कथ्यते ।—योगवासिष्ठ, ६/१२/१८

१०. कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।—मुं०उ०, ३/२/२

होता है और तदनुरूप फल मिलता है।^१ संकल्प शक्ति मन का सार है। समस्त संकल्पों का मन एक अयन है।^२ मन का सम्पूर्ण कार्य—कलाप संकल्प शक्ति पर आधारित है। संकल्प से चित् श्रेष्ठ है।^३ जिस समय मनुष्य चेतना युक्त होता है तभी संकल्प करता है फिर मनन कर वाणी को प्रेरित करता है। शंकर के मतानुसार चित्त का अर्थ है चेतयितृत्व अर्थात् प्राप्त काल के अनुरूप बोधयुक्त होना तथा भूत और भविष्यत् विषयों के प्रयोजन का निरूपण करने में समर्थ होना।^४ चित्, बुद्धि, अहंकार ये मन की ही विभिन्न अवस्थायें हैं।^५

मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का तथा जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा।^६ जिस प्रकार मन इन सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है ऐसा यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाये तो कौन से बन्धन (सांसारिक, जन्म, मृत्यु) से न छूट जाए—

समारक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।

यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्।।^७

शाटयायनीयोपनिषद् में कहा गया है—प्रत्येक मनुष्य को अभ्यास द्वारा चित्त का शोधन करना चाहिये—

चित्तमेव हि संसारस्तप्रयत्नेन शोधयेत्।

यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्।।^८

-
१. काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभि संपद्यते। बृ०उ०, ४/५/५
 २. समस्त संकल्पानां मन एव एकायनमेव।—वही, ४/५/१२
 ३. चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो।—छा०उ०, ७/५/१
 ४. वही, शा०भा०, पृ०—६७७
 ५. मनश्च मन्तव्यं, बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च।—प्र०उ०, ४/८
 ६. शाट०उ०, १
 ७. वही, २; मैत्रे०उ०, १/११
 ८. वही, ३

मैत्रेय्युपनिषद् में कहा गया है—ज्ञान के द्वारा मन को वश में किया जा सकता है—

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः।

मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥^१

जिस प्रकार लकड़ी के समाप्त हो जाने पर अग्नि अपने आप बुझ जाती है, उसी प्रकार चित्तवृत्तियों का नाश होने पर चित्त अपने कारण रूप आत्मा में शान्त बन जाता है।^२

मैत्रेय्युपनिषद् में चित्त को संसार कहा गया है—‘चित्तमेव हि संसारः’।^३ चित्त के शान्त हो जाने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और शान्त बना मनुष्य जब आत्मा में लीन होता है तब उसे अक्षय आनन्द प्राप्त होता है।^४

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।

प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥^५

शाण्डिल्योपनिषद् में उल्लिखित है—ज्ञेय वस्तु का त्याग करने से मन विलय को प्राप्त होता है और जब मन विलय हो जाता है। तो केवल कैवल्य ही शेष रहता है।^६

१. मैत्रेय्युपनिषद्, १/६

२. वही, १/७

३. वही, १/६

४. वही, पृ०—२४५

५. वही, १/१०

६. शाण्डिल्योपनिषद्, २३

द्वितीय अध्याय

सांख्य-योगदर्शन में मन की अवधारणा

द्वितीय अध्याय सांख्य-योगदर्शन में मन की अवधारणा

त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार 'मन'

सांख्य-योग परम्परा में 'मन' त्रिगुणात्मक प्रकृति का एक विकार माना गया है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है, महत् से अहंकार एवं अहंकार से पंचतन्मात्राओं के साथ-साथ एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, मन उन एकादश इन्द्रियों में अन्यतम है। इन एकादश इन्द्रियों में मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्पकर्त्ता है और समानधर्मा होने से इन्द्रिय भी कहलाता है। गुणों के परिणाम विशेष से अर्थात् सत्त्वादि के विविध रूप में परिणत होने से इन्द्रियों में नानात्व और बाह्य जगत् के विषयों में भेद होता है।^१ यद्यपि मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना आदि है, तथापि अन्य इन्द्रियों के समान ही सात्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण मन को भी इन्द्रिय माना जाता है।^२

सांख्य में अनुल्लिखित 'चित्त' योग में उल्लिखित

सांख्य में 'चित्त' नाम से किसी तत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता है।^३ सांख्य सम्मत सृष्टि में 'अहंकार' से आविर्भूत 'मन' तत्त्व के किसी अन्य नाम से सम्बन्धित कारिका भी नहीं प्राप्त होती है। अतः सांख्यदर्शन में 'चित्त' पद का उल्लेख नहीं हुआ है। जबकि योगदर्शन में 'चित्त' पद का उल्लेख सर्वाधिक हुआ है। इसके लिये पातञ्जलयोग के

१. उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्।

गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च।। सां०का०, २७

२. इन्द्रियान्तरैः सात्विकाहकारोपादनत्वं च साधर्म्याम्। -सां०का०, १४७

३. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।। -सां०का०, २२

अनेक सूत्र अवलोकनीय है।^१ योग के तीन सूत्र विचारणीय हैं—एक सूत्र^२ में ‘मन’, दूसरे^३ में ‘चित्त’ तथा ‘बुद्धि’ दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। गुणपर्व से सम्बन्धित तीसरे सूत्र^४ के व्यासभाष्य में मन और महत् नाम से दो तत्त्व उपलब्ध होते हैं। अतः योग में भी ‘चित्त’ नाम से कौन-सा तत्त्व गृहीत किया जाए तथा सांख्य-योग की प्रतीतिक उक्त विसंगति को कैसे दूर किया जाए, यह विचारणीय है।

बुद्धि, चित्त तथा मन की एकरूपता

एक ओर पतञ्जलि के सूत्रों में ‘चित्त’ पद का प्रयोग बहुलतया हुआ है तो दूसरी ओर गुणपर्व नाम से योग के परिगणित तत्त्वों में ‘चित्त’ पद का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।^५ जबकि सम्पूर्ण योग साधना चित्तावलम्बित है।^६ अतः योगशास्त्र के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि, चित्त तथा मन तीनों में एकरूपता है। योगसूत्र के चतुर्थ पाद के तेईसवें सूत्र^७ पर विचार करने से प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने ‘चित्त’ से जिस पद को गृहीत किया है उसी की वृत्ति को बुद्धि नाम से नामित किया है। चित्त की ज्ञानात्मक वृत्ति के लिये यहाँ ‘बुद्धि’ शब्द का प्रयोग हुआ है, जबकि सांख्य में ‘बुद्धि’ या ‘महत्’ शब्द से एक तत्त्व वर्णित हुआ है। तात्त्विक विश्लेषण पूर्वक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सांख्य के ‘बुद्धि’ तत्त्व के लिये योग में ‘चित्त’ शब्द का प्रयोग हुआ है। योग के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र में प्रयुक्त ‘मन’ पद से भी ‘चित्त’ तत्त्व ही गृहीत होता है।^८ ‘मनसः स्थितिनिबन्धनी’ सूत्रार्द्ध की व्याख्या व्यासदेव के अनुसार

१. यो०सू०-१/२, ३३, ३७; ३/१६, ११, १२, १६, ३२; ४/४, ५, १५, १६, १७, १८, २३ तथा २६।

२. विषयवती वा प्रवृत्तिरूपन्नाः मनसः स्थितिनिबन्धनी—यो०सू० १/३५

३. चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्ग स्मृतिसङ्करश्च—वही ४/२१

४. विशेषविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणवाणि—वही, २/१६

५. यो०द०, पृ०-३

६. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। वही, १/२

७. दृष्टदृश्योपरकक्तं चित्तं सर्वार्थम्।—वही, ४/२३

८. वही, १/३५

है—‘चित्तं स्थितौ निबन्धनन्ति।’ इसी सूत्र के वार्तिक में ‘मनश्चित्तयोरेकतेति बोध्यम्।’^१ वाक्य द्वारा विज्ञानभिक्षु ने ‘चित्त’ और ‘मन’ की एकरूपता का उद्घोष कर अवशिष्ट संदेह को भी दूर कर दिया है।

सांख्य में ‘बुद्धि’, शब्द का प्रयोग हुआ है और ‘पुरि शेते इति पुरुषः’ व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धिरूप पुर में जो शयन करता है, उसे ‘पुरुष’ कहते हैं। बुद्धि और पुरुष की मान्यता पर सांख्य की तत्त्वमीमांसा प्रतिष्ठित हुई है। योग की मान्यता ‘चित्त—चिति’ की मान्यता पर स्थापित हुई है। चिति या चित् शब्द का अर्थ पुरुष है। चित्त के समानान्तर चित् (चिति) पद का प्रयोग योग में प्राप्त है। चित्त को चितिशक्ति (चिन्तन) का साधन माना जाता है।^२ ‘चित्’ से ‘करण’ अर्थ में ‘क्त’ प्रत्यय करने में ‘चित्त’ पद निष्पन्न होता है। अधिभूतरूप में जो ‘महान्’ संज्ञा वाला है, वही अध्यात्मरूप से ‘चित्त’ संज्ञा को धारण करता है। इस प्रकार सांख्य का ‘बुद्धितत्त्व’ योग में ‘चित्त’ नाम से व्यवहृत हुआ है।^३

सांख्य—योग मान्यताओं के अनुसार समस्त जड़ जगत् तीन गुणों—सत्त्व, रजस् एवं तमस् का परिणाम है। दृश्य—अदृश्य विश्व के मूल उपादान कारण ये ही तीन गुण हैं,^४ चित्त भी इन तीनों गुणों का परिणाम है। इसमें सत्त्व—प्रकाश स्वभाव, रजस्—प्रवृत्ति स्वभाव तथा तमस्—नियमन (रोकना) स्वभाव वाला है। वस्तु में जब जिस गुण का प्राधान्य रहता है, तब वही स्वभाव प्रकट होता है। चित्त की रचना सत्त्वगुण प्रधान है, इस कारण रजस्—तमस् के प्राधान्य में भी चित्त का प्रकाश स्वभाव निरन्तर बना रहता

१. व्या०भा०, पृ०—१००

२. यो०वा०, पृ०—१०१

३. यो०द०, पृ०—३

४. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (नवम खण्ड), आ० बलदेव उपाध्याय, पृ०—३६८

५. ‘गुण’ पद प्रस्तुत शास्त्र का पारिभाषिक है। यहाँ ‘गुण’ पद से न्याय वैशेषिक अभिमत गुण अभिप्रेत नहीं हैं। यह वस्तुतः मूलतत्त्व हैं।—सां० सि०, पृ०—२१०—१२

है। इन्हीं गुणों के यथायथ प्रधान व अप्रधान रहने से चित्त की विभिन्न अवस्था प्रकट होती है।^१ वाचस्पति मिश्र स्पष्ट रूप से गुणों के वैषम्य को ही चित्त की विभिन्न अवस्थाओं का कारण मानते हैं।^२

चित्त की भूमियाँ या अवस्थाएँ

चित्त की विभिन्न अवस्थाएँ ही चित्त की भूमियाँ कही जाती हैं जो कि क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध कही गई हैं।^३

क्षिप्तावस्था

त्रिगुणात्मक चित्त में जब रजोगुण प्रधान एवं सत्त्व तथा तमोगुण गौणावस्था में रहते हैं तो यह क्षिप्तावस्था कही जाती है, रजोगुण का स्वभाव क्रियाशीलता बताया गया है।^४ अतएव इस अवस्था में चित्त विभिन्न विषयों की ओर आकृष्ट होता रहता है।^५ वाचस्पति मिश्र इसे अत्यन्त अस्थिर मानते हैं।^६ यह चित्त दैत्य कोटि के प्राणियों का होता है ऐसा रामानन्दयति का मत है।^७

मूढ़ावस्था

चित्त में जब रजोगुण का वेग न्यून होकर तमोगुण का प्राधान्य होता है, वह मोह आवरण को उभार देता है। यह मोह-आवरण ज्ञान अर्थात् प्रकाश को अभिभूत

१. यो०द०, पृ०-४

२. एकमपि चित्तं त्रिगुणनिर्मिततया गुणानां च वैषम्येण परस्परविमर्दवैत्र्याद्विचित्रपरिणामं सदनकावस्थमुपपद्यत इति ।—त०वै०, पृ०-१०

३. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः । —व्या०भा०, पृ०-१

४. क्रियाशीलं रजः । वही, पृ०-१६०

५. (क) क्षिप्तं सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरम् ।—त०वै०, पृ०-४

(ख) क्षिप्तं रजसा विषयेष्वेव वृत्तिमद् ।—यो०वा०, पृ०-६

६. क्षिप्तं सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरम् ।—त०वै०, पृ०-४

७. रजसाऽत्यन्तं चलं क्षिप्तं दैत्यानाम् ।—म०प्र०, पृ०-२

कर अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य आदि के लिये साधन बन जाता है। अज्ञानमूलक अधार्मिक कार्य इसी के परिणाम होते हैं। अतः निद्रा, आलस्य आदि वृत्तियों से युक्त है।^१ रामानन्दयति के मतानुसार यह राक्षसादि की होती है।^२

विक्षिप्तावस्था

यद्यपि यह अवस्था क्षिप्तावस्था के समान ही रजोगुण प्रधान है तथापि एक वैशिष्ट्य के कारण यह 'विक्षिप्त' कही गई है, वह है—अत्यन्त अस्थिर होने पर भी यदा—कदा कुछ काल के लिये स्थिर हो जाना ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है।^३ विज्ञानभिक्षु के मतानुसार—यह सत्त्वगुण के आधिक्य के कारण स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।^४ रामानन्दयति देवादि को इस चित्त से युक्त मानते हैं।^५

एकाग्रावस्था

यह चित्त की सत्त्वगुण—प्रधान—अवस्था है क्योंकि रजस् एवं तमोगुण उस काल में अभिभूत ही रहते हैं। यही कारण है कि इस अवस्था में चित्त किसी विशेष—विषय पर केन्द्रित हो जाता है ऐसा विज्ञानभिक्षु एवं रामानन्दयति दोनों ने स्पष्ट किया है।^६ यह सम्प्रज्ञात योग की दशा में होता है।

१. (क) मूढं तु तमः समुद्रेकान्निद्रावृत्तिमत् ।—यो०वा०, पृ०—६

(ख) मूढं तमसा निद्राऽऽदिवृत्तिमत् ।—वही

२. तमसा निद्रादिमन्मूढं राक्षसाम् ।—म०प्र०, पृ०—२

३. क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तम् । विशेषोऽस्थेमबहुलस्य कदाचित्कः स्थेमा ।—त०वै०, पृ०—४

४. क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तम् सत्त्वाधिक्येनसमादधदपि चित्तं रजोमात्रयाऽन्तरान्तरा विषयान्तरवृत्तिमद् ।—वही, पृ०—६

५. क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं देवादीनाम् ।—म०प्र०, पृ०—२

६. (क) एकस्मिन्नेव विषयेऽग्रं शिखा यस्य चित्तदीपस्येत्येकाग्रं विशुद्धसत्त्वतयैकस्मिन्नेव विषये वक्ष्यमाणावधीकृतकालपर्यन्तमचञ्चलं निवातस्थदीपवत् ।—यो०वा०, पृ०—६, ७

(ख) एकाग्रे तु सत्त्वप्रधाने एकविषयस्थिते चित्ते रजस्तमोवृत्तिनिरोधः ।—म०प्र०, पृ०—२

निरुद्धावस्था

चित्त की अन्य अवस्थाओं से यह पूर्णरूप से भिन्न है क्योंकि अन्य अवस्थाओं में किसी न किसी प्रकार की वृत्तियाँ अवश्य रहती हैं जबकि इस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है और मात्र संस्कार ही अवशिष्ट रहते हैं, ऐसा दोनों टीकाकारों ने स्पष्ट किया है।^१ यह दशा असम्प्रज्ञात योग सम्पन्न योगियों की होती है जिन्होंने विवेकख्याति रूप सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध कर लिया है।^२ भोजवृत्ति में कहा गया है—‘जब बाह्य वृत्तियों के निरोध होने पर चित्त एक ही विषय में एकाकार वृत्ति धारण करता है, तब उसे ‘एकाग्र’ कहते हैं। परन्तु सब संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त की संज्ञा ‘निरुद्ध’ है। इसी अवस्था को योग कहते हैं।^३

चित्त के भेद

त्रिगुणात्मक होने के कारण चित्त में सत्त्व, रजस् व तमस् तीनों गुणों के प्राबल्य होते रहते हैं। जिनके अनुसार उनके तीन भेद होते हैं—प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील एवं स्थितिशील।

प्रख्याशील

इसमें सत्त्व प्रधान चित्त रजस् और तमस् से संयुक्त रहता है। तमोगुण से आवृत्त रहने पर इसमें अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य रहता है।

प्रवृत्तिशील

तमस् के क्षीण होने और केवल रजस् से युक्त होने पर चित्त सर्वत्र प्रकाशमान होता है तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य से मुक्त होता है।

१. (क) निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषचित्तं निरुद्धम् ।—त०वै०, पृ०—४

(ख) निरुद्ध च निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषमित्यर्थः ।—यो०वा०, पृ०—७

२. सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः ।—व्या०भा०, पृ०—९

३. एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोध, निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः ।—भो०वृ०, पृ०—४

स्थितिशील

रजस् का लय हो जाने पर सत्त्वगुण प्रधान चित्त अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और उसे विवेकबुद्धि प्राप्त हो जाती है।

चित्त की वृत्तियाँ

चित्त की जिन वृत्तियों का निरोध योग का लक्ष्य है, उनका ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। अतएव सूत्रकार ने उनकी संख्या एवं स्वरूप का निर्धारण किया है—क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट के भेद से वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं।^१ चित्त का किसी विशिष्ट प्रकार से रहना ही वृत्ति कहा जाता है। यद्यपि ये असंख्य हैं तथापि इन्हें—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति पाँच मुख्य रूपों में विभाजित किया गया है। वाचस्पति मिश्र 'वृत्ति' को एक अवयवी के रूप में मानते हैं जिसके पाँच अवयव प्रमाणादि हैं।^२ ये वृत्तियाँ क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की मानी जाती हैं। व्यासदेव के अनुसार क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लेश हेतुक एवं कर्माशय प्रचय का उत्पत्ति स्थल हैं।^३ वाचस्पति मिश्र^४ अस्मितादि क्लेश जिन वृत्तियों की प्रवृत्ति के हेतु होते हैं, उन्हें क्लिष्ट वृत्तियाँ मानते हैं क्योंकि इन वृत्तियों की प्रवृत्ति क्लेशों के उपार्जन—हेतु होती है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार क्लेश का अर्थ यहाँ दुःख है। वे वृत्तियाँ जो परिणाम में दुःखदायिनी अर्थात् विषयाकार वृत्तियाँ हैं वे ही क्लिष्ट कही जाती हैं।^५ ख्यातिविषयक होने से गुणाधिकार विरोधी जो वृत्तियाँ हैं वे अक्लिष्ट कही जाती हैं।^६

१. वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।—यो०सू०, १/५, सां०सू०, २/३३

२. वृत्तिरूपोऽवयव्येकः, तस्य प्रमाणादयोऽवयवाः पञ्च ।—त०वै०, पृ०—२५

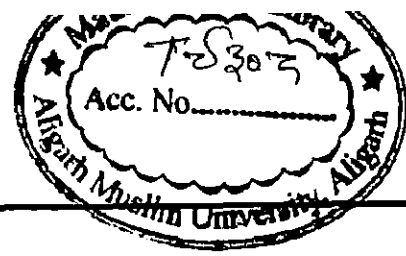
३. क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टा ।—व्या०भा०, पृ०—२५

४. क्लेशा अस्मितादयो हेतवः प्रवृत्तिकारणं यासां वृत्तीनां तास्तथोक्ताः ।

यद्वा पुरुषार्थप्रधानस्य रजस्तमोमयीनां हि वृत्तीनां क्लेशकारणत्वेन क्लेशायेव प्रवृत्तिः ।—त०वै०, पृ०—२५

५. तथा च क्लेशहेतुकाः दुःखफलिका विषयाकारवृत्तय इत्यर्थः ।.....यो०वा०, २७

६. ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः ।—व्या०भा०, पृ०— २५



ख्याति से तात्पर्य वाचस्पति मिश्र रजस् एवं तमोगुण से रहित बुद्धिसत्त्व की प्रशान्तवाहिता दशा में जो विवेकख्याति का ग्रहण किया जाता है उसे मानते हैं।^१

विज्ञानभिक्षु के मतानुसार विवेकख्याति के साधनों को भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए।^२ यद्यपि क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों का निरोध अपेक्षित है तथापि पहले अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों के निरोध का उपदेश दिया गया है। तदन्तर पर-वैराग्य के द्वारा अत्यन्त अक्लिष्ट वृत्ति विवेकख्याति का भी निरोध किया जाना चाहिये ऐसा वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है।^३ विज्ञानभिक्षु ने भी इसी क्रम का उल्लेख किया है।^४ चित्त की वृत्तियों को इस प्रकार विभाजित करके विवेचन किया गया है—

१. प्रमाण वृत्ति

वाचस्पति मिश्र प्रमा के साधन को प्रमाण मानते हुए अनधिगत तत्त्व का बोध पौरुषेयव्यवहार का हेतु मानते हैं।^५ विज्ञानभिक्षु ने पौरुषेय व्यवहार के हेतुत्व का उल्लेख प्रमा का लक्षण करते हुए नहीं किया है।^६ परन्तु उनके द्वारा इसका उल्लेख न किये जाने का कारण इसका स्वतः सिद्ध होना है। क्योंकि अनधिगत तत्त्व ज्ञान उस विषय के प्रति पुरुष के व्यवहार का कारण बनता ही है। योगदर्शन में प्रमाणों की संख्या सांख्य-दर्शन के समान तीन मानी गई है—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम।^७

१. विवेकख्याति को कैवल्य का उपाय बताया गया है। विवेकख्याति एक प्रकार का आन्तरिक अनुभव है। ध्यानावस्था में जब आत्मा स्वयं को तथा चित्त को पृथक्-पृथक् अनुभव करता है, यह आन्तरिक अनुभव ही दार्शनिक भाषा में 'विवेकख्याति' या 'विवेकज्ञान' कहलाता है।—यो०सू०, २/२६
२. विधूतरजस्तमसो बुद्धिसत्त्वस्य प्रशान्तवाहिनः प्रज्ञाप्रसादः ख्यातिः, तथा विषयिन्या तद्विषयं सत्त्वपुरुषविवेकमुपलक्षयति।—त०वै, पृ०—२६
३. ख्यातिसाधनस्यापि संग्रहाय विषयपदमिति।—यो०वा, पृ०—२७
४. तस्मात्क्लिष्टानामक्लिष्टाभिर्निरोधः, तासां च वैराग्येण परेणेति।—त०वै०, पृ०—२६
५. तत्र चायं क्रमोऽक्लिष्टा उपादाय क्लिष्टा निरोद्धव्याः, ततस्या अपि परवैराग्येणेति।—यो०वा, पृ०—२७
६. अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतु प्रमा। तत्करणं प्रमाणम्।—त०वै०, पृ०—२६
७. अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणसुगमत्वादकृत्वैव विभागः कृतः। यो०वा०, पृ०—३१
८. तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।—यो०सू०, १/७

प्रत्यक्ष प्रमाण

चित्त का इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य वस्तु के साथ सम्पर्क होने पर पदार्थ के विशेष स्वरूप को निश्चित कराने वाला प्रमाण प्रत्यक्ष कहा जाता है।^१ चित्त का बाह्य पदार्थों के साथ इन्द्रियों द्वारा जो सम्पर्क होता है उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि चित्त अकेला ही विषयाकाराकारित नहीं होता वरन् इन्द्रिय सहित तदाकाराकारित होता है।^२ चक्षु-इन्द्रिय का सामने विद्यमान घट आदि विषय के साथ चक्षुरश्मि के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होने पर वह विषय अपने आकार-प्रकार सहित इन्द्रिय में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इन्द्रिय के साथ मन का, मन के साथ अहंकार एवं अहंकार के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होने से वह विषय-प्रतिबिम्ब बुद्धि में प्रतिफलित होता है। बुद्धि का सीधा सम्बन्ध आत्मा के साथ होने से आत्मा उस विषय का ग्रहण करता है। आत्मा को होने वाला विषयज्ञान योगशास्त्र की परिभाषा में 'बोध' कहा जाता है। इन्द्रिय से लेकर बुद्धि तक उस विषयप्रतिबिम्ब का नाम 'वृत्ति' है। इसका चित्तवृत्ति^३ पद से व्यवहार होता है। चक्षु-इन्द्रिय द्वारा जो घटादि विषय का उपराग (प्रतिबिम्ब) चित्त तक पहुँचता है, वह वृत्ति 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है। उससे पुरुष को जो बोध होता है, उसका नाम 'प्रत्यक्ष प्रमा' है। प्रत्यक्ष प्रमा का साधन 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है।

-
१. इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषयः सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।—व्या०भा०, पृ०-२८
 २. चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति न केवलस्य चित्तस्य।—यो०वा०, पृ०-३१
 ३. प्रसंगवश अन्यत्र भी इसका उल्लेख किया गया है, कि योगशास्त्र में मुख्यरूप से बुद्धि के लिए 'चित्त' पद का प्रयोग हुआ है। बाह्यकरणों से अन्तःकरण प्रशस्त और उसमें भी बुद्धि श्रेष्ठ है। इसी आधार पर उपनिषदों में इसे 'श्रेष्ठ प्राण' कहा है। सामान्यरूप से सभी अन्तःकरणों के लिये सामूहिकरूप में 'चित्त' पद का प्रयोग योगशास्त्र में अभिहित है।—यो०द०, पृ०-११

अनुमान प्रमाण

जो धर्म समानजातीय धर्मी में आवश्यक रूप से रहता है तथा विभिन्नजातीय धर्मी में नहीं रहता, ऐसा दृष्टिगत धर्म अपने व्यवहित (दिखाई न देते हुए) धर्मी का बोध करा देता है। ऐसे धर्म को दार्शनिक परिभाषा में 'लिङ्ग' तथा धर्मी को 'लिङ्गी' कहा जाता है। 'लीनं अन्तर्हितं अर्थं गमयति बोधयति इति लिङ्गम्।' छिपे हुए अर्थ (वस्तुतत्त्व) का बोध कराने वाला धर्म लिङ्ग, तथा जो छिपा हुआ अर्थ बोधित हो वह लिङ्गी कहा जाता है। लिङ्ग तथा लिङ्गी परस्पर अव्यभिचरित सम्बन्ध होना आवश्यक है।

किसी व्यक्ति को दूर से धुँआ दिखाई देता है। वह जानता है, कि धुआँ बिना आग के नहीं हो सकता। सीधी रेखा के रूप में उठता हुआ धुआँ दिखाई देने से वह व्यक्ति जिज्ञासा होने पर छिपी हुई आग का अनुमान कर लेता है। उसका वह ज्ञान यथार्थ होता है। वहाँ पहुँचने पर व्यवधान न रहने से वह आग को प्रत्यक्ष से देख लेता है। पुरुष को जो बोध होता है, वह अनुमिति प्रमा अर्थात् प्रमाण का फल है, तथा हेतुमान् व्यापक से संबद्ध लिङ्ग हेतु के ग्रहण, ज्ञान के द्वारा लिङ्गी, हेतुमान्, व्यापक में सामान्य का निश्चय ही अनुमान प्रमाण है।^१ इस प्रक्रिया से अग्नि का केवल सामान्यज्ञान होता है, अर्थात् अग्नि के सद्भावमात्र का। वह आग किन साधनों से जल रही है, किनती दूर में फैली है, आकार—प्रकार कितना व कैसा है इत्यादि विशेषताओं का कोई अनुमान चित्तवृत्ति से नहीं हो पाता।

आगम प्रमाण

जब व्यक्ति प्रत्यक्ष या अनुमान से किसी वस्तु को जान लेता है, तथा उसका वह ज्ञान यथार्थ होता है, तब उस जानकारी के विषय में उस व्यक्ति को 'आप्त' माना

१. गृहीत—सम्बन्धात् लिङ्गात् लिङ्गानि सामान्याध्यवसायोऽनुमानम्।—भो०वृ०, पृ०—१६

जाता है। 'आप्त' पद का साधारण अर्थ है—वस्तु का यथार्थ ज्ञाता। ऐसा आप्त व्यक्ति जब अपने जाने हुए अर्थ का अन्य व्यक्ति को बोध कराने के लिए उपदेश देता है, अर्थात् उस जानकारी का उपयुक्त शब्दों द्वारा—अन्य व्यक्ति को बोध कराने की भावना से कथन करता है, तब उसे 'आगम-प्रमाण' कहा जाता है। इसी को 'शब्द-प्रमाण' कहते हैं। इसमें श्रोता को जो वस्तु का बोध होता है, वह 'आगम-प्रमा' तथा वक्ता की कथनपूर्वक वह चित्तवृत्ति 'आगम-प्रमाण' है।^१

२. विपर्यय वृत्ति

वस्तु के अयथार्थ स्वरूप में स्थित होने वाला मिथ्याज्ञान ही 'विपर्यय' नाम की वृत्ति है।^२ अर्थात् यह पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं कराती है, यह प्रमाण के द्वारा बाधित हो जाती है यथा नेत्रदोष के कारण एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा का दिखाई देना विपर्ययवृत्ति है, क्योंकि यह एक चन्द्र विषयक यथार्थ ज्ञान के द्वारा बाधित हो जाती है।^३

३. विकल्प वृत्ति

शब्द और शब्दज्ञान के अनुसार विषयगत वस्तु से शून्य जो चित्तवृत्ति बनती है उसे विकल्प-वृत्ति कहते हैं।^४ यथा—'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है' यह सुनकर चैतन्य एवं पुरुष में विशेषण-विशेष्य भाव का आभास होता है जो कि निर्वस्तुक होने से प्रमाण रूप न होकर विकल्प रूप है, क्योंकि चैतन्य मात्र ही पुरुष होने के कारण यहाँ उस अभेद में विशेषण-विशेष्य रूप भेद की कल्पना की गई है।^५

१. आप्तवचनम् आगमः।—भो०वृ०, पृ०—१६

२. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।—यो०सू०—१/८

३. तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्।

तद्यथा—द्विचन्द्रदर्शनं सद्बिषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति।—व्या०भा०, पृ०—३५

४. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।—यो०सू०, १/६

५. वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति।—व्या०भा०, पृ०—३८

शब्दज्ञान पर आधारित होने के कारण इसका आगम प्रमाण में अन्तर्भाव किया जा सकता है। इस शंका को दूर करने के लिये व्यासदेव ने इसके प्रमाण में अन्तर्निहित किये जाने का निषेध किया है क्योंकि वह वस्तुशून्य है।^१

वस्तुशून्य होने के कारण इसका विपर्यय में अन्तर्भाव किया जा सकता था। इस शंका का समाधान करते हुए व्यासदेव लिखते हैं—क्योंकि शब्द ज्ञान के आधार पर इस वृत्ति के अनन्तर व्यवहार देखा जाता है अतः इसका विपर्यय में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।^२ विपर्यय वृत्ति के द्वारा जो व्यवहार होता है वह मात्र क्षणिक ही होता है क्योंकि उत्तरकाल में होने वाले पदार्थ के यथार्थ बोध के द्वारा अयथार्थ ज्ञान का बाध हो जाने पर व्यवहार सम्भव नहीं है, जबकि विकल्पवृत्ति के द्वारा हुए बोध का बाध नहीं होता है।^३

४. निद्रावृत्ति

अभाव प्रत्यय का आलम्बन कराने वाली चित्तवृत्ति 'निद्रा' कही जाती है।^४ अर्थात् अभाव के कारणस्वरूप तमोगुण का आलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा कही जाती है।^५ अभाव से तात्पर्य जाग्रत एवं स्वप्न कालिक वृत्तियों के अभाव से है।^६ इन वृत्तियों के अभाव का कारण है तमोगुण क्योंकि वह बुद्धिसत्त्व को अन्धकार की भांति आवृत कर देता है जिससे वह विषयों के ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाती।

१. स न प्रमाणोपारोही।—व्या०भा०, पृ०—३८

२. न विपर्ययोपारोही च। वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते।—वही

३. तथा च यथा च यथाऽर्थशब्देन यथाऽर्थज्ञानेन च यादृशो व्यवहारो भवति शब्दज्ञानरूपस्तादृश एव व्यवहारो विकल्पादपि दृश्यते विवेकनामपीत्यर्थः।

विपर्ययस्तु नैवम्, बाधोत्तरमिदं रजमिति शब्दप्रत्यययोरभावादिति।—यो०वा०, पृ०—३६

४. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिनिद्रा।—यो०सू०, १/१०

५. (क) अभावः तस्य प्रत्ययः कारणं बुद्धिसत्त्वाच्छादकं तमः।—त०वै, पृ०—४१

(ख) अभावस्य प्रत्ययः प्रतिसंक्रमस्थानं कारणमिति यावत्, तच्च चित्तसत्त्वाच्छादकं तमोद्रव्यमन्धकारादिवत्।—यो०वा०, पृ०—४१

६. (ख) जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावः।—त०वै, ४१

(ख) जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावस्य।—यो०वा०, पृ०—४१

५. स्मृति वृत्ति

प्रमाण आदि वृत्तियों से हुए अनुभवों से ही स्मृति होती है, अतः स्मृति—वृत्ति का निर्देश सबसे अन्त में किया गया है। पहले अनुभव किये हुए विषय का फिर उभर आना 'स्मृति' नामक चित्तवृत्ति है।^१ विषय की अनुभूति के अनन्तर अनुभवजन्य संस्कार आत्मा में निहित रहते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त उपस्थित होने पर संस्कार उभर आते हैं, जो उस विषय को याद करा देते हैं। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम 'स्मृति' है। संस्कार अनुभूति के समान होते हैं तथा 'स्मृति' संस्कारों के सदृश हुआ करती है। स्मृति का विषय सदैव वही होता है, जो अनुभव का विषय रहा हो। अनुभव किये बिना स्मरण नहीं होता है। कभी किसी संस्कार के न रहने से, निमित्तवश नष्ट हो जाने पर भी उस विषय का पुनः स्मरण नहीं हो पाता।

पूर्वानुभूत विषय कभी—कभी स्मृति में उलट—पुलट जाते हैं। स्वप्न एक ऐसी ही स्मृति है। स्वप्न में अनेक स्मृतियाँ अनुभव के समान रहती हैं, पर कभी—कभी पूर्वानुभूत विषय स्वप्न में निद्रादि दोष के कारण उलटे—पुलटे दिखाई देते हैं। सर्वथा अनुभूत विषय का जाग्रत के समान स्वप्न में भी कभी स्मरण नहीं होता। जो जन्मान्ध व्यक्ति हैं, उनको रूप या रूपवाली वस्तु का स्वप्न नहीं आता।

चित्तवृत्तियों का निरोध

समस्त वृत्तियाँ त्रिगुणात्मक होने से त्याज्य हैं। त्रिगुण सुख—दुःख मोहस्वरूप है। आत्मा अत्रिगुण अर्थात् त्रिगुणातीत है। सुखादिस्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति के सम्पर्क में आत्मा, राग, द्वेष, अविद्या आदि क्लेशों से त्रस्त रहता है। उससे मुक्ति पाने के लिये समस्त वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। सुखात्मक वृत्तियाँ सुख—साधनों में

राग को उत्पन्न करती हैं। उसमें बाधा उत्पन्न करने वालों के प्रति द्वेष भावना जागृत हो जाती है। राग—द्वेष क्लेश के मूल हैं। ये सब मोह अर्थात् अविद्या के कारण उभरते हैं। इन सब क्लेशमूलवृत्तियों का निरोध,^१ आत्मा को क्लेशों से दूर रखने में उपयोगी होता है।^२

विज्ञानभिक्षु के मतानुसार—‘निरोध’ लयरूप है। वह अधिकरण की एक विशिष्ट अवस्था है।^३ ईधनरहित अग्नि के उपशम की भाँति व्यापाररहित चित्तवृत्तियों का अपने कारण में लय होना ‘निरोध’ है।^४

चित्तवृत्ति निरोध के उपाय

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध किया जाता है।^५ ये दोनों मिलकर वृत्तियों का निरोध करने में समर्थ होते हैं।

अभ्यास

चित्त की स्थिरता (एकाग्रतारूप प्रशान्तवाहिता स्थिति) के लिये निरन्तर प्रयत्न करना ‘अभ्यास’ है।^६ विज्ञानभिक्षु के अनुसार हर्षशोकादि विभिन्न तरंगों से रहित चित्त की एकाग्र वृत्ति रूप जो धारा है उसको स्थिति या प्रशान्तवाहिता कहते हैं।^७

१. ‘नि’ उपसर्गपूर्वक ‘रुध्’ धातु से ‘धञ्’ प्रत्यय करके ‘निरोध’ शब्द निष्पन्न होता है। ‘निरोध’ शब्द का साधारण अर्थ है—अवबाधा। अवबाधा की परिणति नाश है। अतः ‘नाश’ भी निरोध पद का वाच्यार्थ है। योगदर्शन में ‘निरोध’ शब्द ‘नाश’ अर्थ में नहीं अपितु ‘अवस्था—विशेष’ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
२. यो०द०, पृ०—२०
३. निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः।—यो०वा०, पृ०—१२
४. निरोध उपशमो निरिन्धनाग्निवत् स्वकारणे लयः।—यो०सि०चं०, १/२
५. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।—यो०सू०, १/१२
६. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।—वही, १/१३
७. वृत्त्यन्तराभावात् प्रशान्ता हर्षशोकादितरङ्गरहिता, एकाग्रवृत्तिधारेत्यर्थः।—यो०वा०, पृ०—४८
;वाचस्पति मिश्र के अनुसार सात्त्विक—वृत्ति के प्रवाह रूप जो एकाग्रता है वही स्थिति है—सात्त्विकवृत्तिवाहितैकाग्रता स्थितिः।—त०वै०, पृ०—४८
;विज्ञानभिक्षु भी इसी को पुनः स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि राजस एवं तामसवृत्ति से रहित मात्र सात्त्विक वृत्ति का प्रवाह ही एकाग्रता है।—यो०वा०, पृ०—४८

इस स्थिति की प्राप्ति के लिये जो वीर्य एवं उत्साह का सञ्चय किया जाता है वही अभ्यास है। वाचस्पति मिश्र वीर्य एवं उत्साह पदों को यत्न का पर्यायवाची मानते हैं। अतएव इनकी व्याख्या नहीं की है।^१ नारायणतीर्थ ने अभ्यास के लक्षण को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—उत्साह, साहस तथा धैर्यपूर्वक अध्यात्म-विद्या का अध्ययन, महत्सेवा और यमनियमादि का अनुष्ठान करना अभ्यास है।^२

अभ्यास के द्वारा चित्त की एकाग्रतारूप प्रशान्तवाहिता स्थिति की प्राप्ति होती है ऐसा जो कहा गया है, उस पर यह शंका होती है कि मानव का चित्त अत्यन्त चंचल है तथा अनादिकाल से उसमें व्युत्थान की तरंगें उठती रहीं हैं तो किस प्रकार वह एकदम स्थिर हो सकता है और यदि कुछ समय के लिये उसे बलपूर्वक रोक भी लिया जाए तो कुछ काल बाद वह पुनः अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार आचरण करने लगेगा। इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने लिखा है वह अभ्यास यदि दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर तथा सत्कार पूर्वक किया जाये तो वह दृढ़भूमि हो जाता है।^३ दृढ़भूमि से तात्पर्य यह है कि व्युत्थान संस्कारों के द्वारा वह शीघ्र ही अभिभूत नहीं होता।^४ विज्ञानभिक्षु ने अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब साधक स्वेच्छा से अभ्यास के उपरान्त समाधि भंग करता है तो निश्चय ही व्युत्थान के संस्कार उभरते हैं। फिर भी वह अपने दैनिक कार्यों को करने में समर्थ हो पाता है। अतएव यहाँ दृढ़भूमि से यही समझना चाहिये कि समाधिकाल में विध्न-स्वरूप व्युत्थान के संस्कार बाधक नहीं होते।^५

१. प्रयत्नमेव पर्यायाभ्यां विशदयति वीर्यमुत्साह इति।—त०वै०, पृ०—४८

२.उत्साहसाहसधैर्याध्यात्मविद्याध्ययनमहत्सेवनयमनियमाद्यनुष्ठानलक्षणोऽभ्यास इत्यर्थः।—यो०सि०चं०, पृ०—१६

३. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।—यो०सू०, १/४१

४. व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येव सहसाऽनभिभूतः।—यो०वा०, पृ०—४६

५. वही

वैराग्य

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जब चित्त के अन्दर कोई तृष्णा नहीं उभरती, उस अवस्था का नाम वशीकारसंज्ञा है, उसे ही वैराग्य कहा जाता है।^१ विषय दो प्रकार हैं—एक दृष्ट, दूसरे आनुश्रविक! दृष्ट वे हैं, जो इस लोक में अनुभव किया जाते हैं। जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि ऐन्द्रिक विषय एवं स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि का समावेश है। आनुश्रविक विषय वे हैं, जिनको शास्त्र के द्वारा जाना जाता है। शास्त्रद्वारा वेद्य विषय भी दो प्रकार के हैं। एक वे हैं, जो देहान्तर की प्राप्ति होने पर जानने योग्य हैं, और दूसरे वे हैं, जो उसी देह में चित्त की अवस्थान्तर प्राप्ति पर जाने जा सकते हैं। पहले स्वर्ग देवलोक, वैदेह्य और प्रकृतिलयत्व^२ आदि हैं। दूसरे हैं—दिव्यगन्ध, रस—रूप आदि^३ तथा विविध प्रकार की सिद्धियाँ।^४ स्वर्ग आदि सुख का ज्ञान व भोग देहान्तर की प्राप्ति पर होता है, तथा दिव्यगन्ध आदि विषयों एवं विविधसिद्धिवेद्य विषयों की उपस्थिति देह में ही चित्त की विशिष्ट अवस्था प्राप्त होने पर हो जाती है।

वैराग्य की चार अवस्थाएं

शास्त्रकारों ने वैराग्य की चार संज्ञा (अवस्थाएं) बताई हैं—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा तथा वशीकारसंज्ञा।^५

यतमानसंज्ञा

वाचस्पति मिश्र के अनुसार—रागादि क्लेश चित्त के मल कहे जाते हैं जिसके

-
१. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।—यो०सू०, १/१५
 २. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।—वही, १/१६
 ३. दिव्यगन्ध आदि विषयों की उपस्थिति का विवरण पाद के ३५ वें सूत्र में दिया गया है।
 ४. सिद्धियों का विवरण योगशास्त्र के 'विभूतिपाद' नामक तृतीय पाद में विस्तारपूर्वक दिया गया है।
 ५. यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति चतस्रः संज्ञा इत्यागमिनः।—त०वै०, पृ०—५०

द्वारा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं। वे अपने विषयों में प्रवृत्त न हो इसके परिपचन (निरोध)^१ के लिए जो यत्न किया जा रहा है वह यतमान-संज्ञक वैराग्य है।^२ विज्ञानभिक्षु भी यतमान-संज्ञक वैराग्य को वैराग्य की प्रथम भूमि मानते हैं। उसके अनुसार ज्ञानपूर्वक वैराग्य के साधनों का अनुष्ठान करना ही यतमान-संज्ञक वैराग्य है।^३

व्यतिरेक संज्ञा

व्यतिरेक का अर्थ है, भेद, अन्तर या भिन्नता। वैराग्य की ओर प्रवृत्त हुए व्यक्ति के चित्त में जब विषयों की ओर रागादि की समाप्ति हो जाती है, अर्थात् चित्त के मल रागादि दोषों के परित्याग की निरन्तर जागरूक तीव्र भावना एवं प्रयत्न से जब दोष धुल जाते हैं, तब विषयों में बाह्येन्द्रियों की आसक्तिमूलक प्रवृत्ति नहीं रहती। परन्तु मोह चित्त का प्रबल दोष है, कभी उभरकर व्यथित करता है। तब योगाभ्यासी चिन्तन करता है कि इन इन्द्रियों को जीत लिया है तथा उन इन्द्रियों को जीतना है, वह व्यतिरेक-संज्ञक वैराग्य कहलाता है।^४ क्योंकि साधक इसमें जीत ली गई और न जीती गई इन्द्रियों में भेद करता है। वाचस्पति मिश्र के मतानुसार साधक इन्द्रियों में भेद न देखकर चित्त में विद्यमान मलों के विषय में चिन्तन करता हुआ उसमें अन्तर को निश्चित करता है कि इतने चित्त के मलों को दूर कर लिया है तथा कुछ दूर होंगे।^५

१. परिपाचनाय-निरोधायेत्यर्थ।-पा०२०, पृ०-४८

२. रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्तिनस्तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्तन्ते, तन्मा प्रवर्तिष्यतेन्द्रियाणि तत्तद्विषयेष्विति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नः सा यतमानसंज्ञा।-त०वै०, पृ०-५०

३. तत्र प्रथमभूमिका यतमानसंज्ञा (नाम्नी) वितृष्णाज्ञानपूर्वकं वैराग्यसाधनानुष्ठानम्।-यो०वा०, पृ०-५१

४. (क) द्वितीयभूमिका व्यतिरेकसंज्ञा, सा च जितान्येतानीन्द्रियाणि, एतानी च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणयोग्यता।-वही, पृ०-५१

(ख) ततो जितान्येतानीन्द्रियाणि तानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणावस्था व्यतिरेकसंज्ञा।-यो०सा०सं०, पृ०-१४

५. त०वै०, पृ०-५०

एकेन्द्रियसंज्ञा

जब चित्त के मल रागादि दोष ब्राह्म इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त करने के लिये असमर्थ हो जाते हैं, परन्तु चित्त में उत्कण्ठा रूप में विद्यमान रहते हैं उनकी वह एक इन्द्रिय रूप में विद्यमानता ही एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य है।^१ विज्ञानभिक्षु के अनुसार बाह्येन्द्रियों का अपने विषय रूपादि में रागादि का क्षय हो जाने के बाद मन में स्थित मान एवं अपमान विषयक राग-द्वेषादि का ज्ञानपूर्वक क्षय करना एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य है।^२ योगसारसंग्रह में भी विज्ञानभिक्षु ने यही पंक्ति दी है।^३

वशीकारसंज्ञा

वैराग्य की चरमावस्था को ही वशीकार संज्ञक वैराग्य कहा जाता है। इस अवस्था में साधक के चित्त में अब तक उत्कण्ठा रूप से जो रागादि थे उनका भी क्षय हो जाता है। अब साधक के सम्मुख दिव्य या लौकिक कोई भी विषय उपस्थित हो, उसके प्रति चित्त आकृष्ट नहीं होता।^४ भोजदेव के अनुसार जब साधक यह अनुभव करता है कि ये विषय मेरे वश में हैं, मैं इसके वश में नहीं हूँ तब वह वशीकार-संज्ञक अपर-वैराग्य कहलाता है।^५ विज्ञानभिक्षु के मतानुसार यह तब ही सम्भव है जब साधक विषयगत दोषों का पूर्ण रूप से साक्षात्कार कर ले अन्यथा सौभर्यादि की भाँति पूर्वकाल में विरक्त होने पर भी बाद में विषयों का सन्निकर्ष होने से रागादि पुनः उदारावस्था में आ जाते हैं। नागोजिभट्ट के मतानुसार दिव्य एवं अदिव्य विषयों का

१. इन्द्रियप्रवर्तनासमर्थतथा पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थानमेकेन्द्रियसंज्ञा। त०वै०, पृ०-५०

२. यो०वा०, पृ०-५१.

३. ततश्च बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागादिकषये सन्ति, एकस्मिन्नेव मनसि मानवमानादिविषयकरागद्वेषादिनिरसनमेकेन्द्रियसंज्ञा।—यो०सा०सं०, पृ०-१४

४. औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरूपस्थितेष्वपि दिव्यादिव्यविषयेषूपेक्षाबुद्धिः संज्ञात्रयात्परा वशीकारसंज्ञा।—त०वै०, पृ०-५०; तुलनीय 'तथा च रागद्वेषशून्यस्य विषयसाक्षात्कारस्य योग्यता वशीकारसंज्ञाऽऽख्यं वैराग्यमिति पर्यवसितम्।'—यो०वा, पृ०-५१

५. तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्त्वदर्शनाद्विगतगर्द्वस्य या वशीकारसंज्ञा 'ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्यः' इति योऽयं विमर्शः, तद्वैराग्यमुच्यते।—भो०वृ०, पृ०-२६

सान्निध्य होने पर भी प्रसंख्यान (गहन-चिन्तन) के बल से विषयगत दोषों का साक्षात्कार सम्भव है।^१

वैराग्य के भेद

पुरुष के साक्षात्कार से गुणों में तृष्णारहित हो जाना पर-वैराग्य है।^२ वाचस्पति मिश्र के अनुसार आगम, अनुमान तथा आचार्यों के उपदेश के निरन्तर अभ्यास के द्वारा जब साधक को यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है पुरुष शुद्ध, अनन्त एवं ज्ञ है तथा गुण उससे सर्वथा विपरीत हैं तो वह धीरे-धीरे गुणों से विरक्त हो जाता है। गुणों के व्यक्त एवं अव्यक्त किसी भी प्रकार के कार्य के प्रति उसका कोई लगाव अवशिष्ट नहीं रह जाता। सत्त्वपुरुषान्याताख्याति भी सत्त्वगुणात्मक है अतएव उससे भी वह विरक्त हो जाता है।^३ वैराग्य की इस अवस्था को पर-वैराग्य की संज्ञा दी जाती है। दोनों प्रकार के वैराग्य में भेद दर्शाते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि अपर-वैराग्य विषय-विषयक है जब कि पर-वैराग्य ज्ञान-विषयक है।^४

१. प्रसंख्यानबलाद् दोषसाक्षात्कारस्य बलवत्त्वादिति। दोषसाक्षात्काररूपबलाभावात्तु सौभर्यादेः प्राग्विरक्तस्यापि विषयसन्निकर्षेण दोषदर्शनं प्रतिबध्य पुरा राग उत्पादित इति।—यो०वा०, पृ०-५१, यो०सू०वृ०, पृ०-२३२

२. तत्परं पुरुषख्यातेगुणवैतृष्यम्।—यो०सू०, १/१६

३. स तथाभूतो योगी गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यः, सर्वथा विरक्तः सत्त्वपुरुषान्याताख्यातावपि गुणात्मिकायां यावद्विरक्त इति।—त०वै०, पृ०-५३; विज्ञानभिक्षु भी ज्ञान के प्रति जो साधक की उपेक्षा-बुद्धि है उसका कारण गुणों के समस्त व्यक्त एवं अव्यक्त कार्यों और धीरे-धीरे कारणरूप गुण-मात्र के प्रति उसका वैराग्य ही मानते हैं, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि अपर-वैराग्य काल में ज्ञान के प्रति साधक को अधिक आसक्ति होती है या उसे ज्ञान की नश्वरता का बोध नहीं होता है। उसे ज्ञान के विनाशत्व का बोध होने पर भी उसके प्रति वैराग्य नहीं होता। वैराग्य न होने के कारण यह है कि उस काल में साधक लक्ष्य अविद्या की निवृत्ति करना मात्र होता है। जब अपर-वैराग्य काल में वह विद्या से अविद्या की निवृत्ति कर देता है तो उस विद्या में भी दोष देखने के कारण उससे भी विरक्त हो जाता है—तदानीं ज्ञानेऽपि विनाशित्वादिदोषदर्शनसाम्येऽपि नालंबुद्धिरूपं वैराग्यं सम्भवति, अविद्यानिवृत्त्याख्यप्रयोजनवत्त्वात्।—यो०वा०, पृ०-५३

४. पूर्वसूत्रे विषयदोषदर्शनाद्विषयेष्वेव वैराग्यमुक्तं न तु ज्ञाने।—वही, पृ०-५३;

नागोजीभट्ट और भोजदेव ने भी इसी का समर्थन किया है—

पूर्वविषयदोषदर्शनाद्विषयेष्वेव वैराग्यमुक्तं न तु ज्ञाने।—ना०भ०वृ०, पृ०-२३२;

प्रथमं वैराग्यं विषयविषयं, द्वितीयं गुणविषयम्।—भो०वृ०-पृ०-३७

चित्तवृत्तिनिरोध से समाधि

अभ्यास और वैराग्य दोनों उपायों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर संप्रज्ञात समाधि की अवस्था आती है।

संप्रज्ञात समाधि

वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता के स्वरूप का अनुगमन करने वाली या सम्बन्ध रखने वाली चित्तवृत्ति का निरोध ही संप्रज्ञात समाधि है।^१

इस समाधि की प्रारम्भिक स्थिति से लेकर अन्तिम स्तर तक जो क्रम है, उसे चार स्थितियों में विभक्त किया गया है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत।^२

संप्रज्ञात समाधि के भेद

संप्रज्ञात समाधि के निम्नलिखित चार भेद इस प्रकार हैं—

(१) वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि

वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि में साधक स्थूल विषय को आलम्बन बनाकर उस पर चित्त को केन्द्रित करता है।^३ वाचस्पति मिश्र स्थूल के अन्तर्गत पंचमहाभूतों से निर्मित भगवत्प्रतिमादि को ही मानते हैं।^४

१. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः ।—यो०सू०, १/१७

२. समाधि के समस्त क्रम को इन चार स्तरों में विभाजित करने वाले आधार मूल में तीन हैं—ग्रहीता, ग्रहण, ग्राह्य। अन्तिम ग्राह्य सूक्ष्म-स्थूल भेद से दो प्रकार का है, इसीलिये ये आधार चार हो जाते हैं, इन्हीं के अनुसार समाधि के वितर्क आदि चार स्तर हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय कहा जाता है। प्रमाता—आत्मा, प्रमाण—बाह्यकरण (इन्द्रियाँ) तथा अन्तकरण, प्रमेय—सूक्ष्म-स्थूल भेद से यथाक्रम तन्मात्र और स्थूलभूत ।—यो०द०, पृ०—३०

३. वितर्कश्चित्तस्यालम्बेन स्थूल आभोगः ।—व्या०भा०, पृ०—५४

४.स्थूलमेव पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येयं साक्षात्कारोत्पद्य सौक्ष्ममिति ।—त०वै०, पृ०—५४; विज्ञानभिक्षु स्थूल से तात्पर्य 'केवल विकृति' मानते हुए पंचभूतों के साथ-साथ इन्द्रियों को भी इसके अन्तर्गत मानते हैं—स्थूलयोर्भूतेन्द्रिययोः ।—यो०वा०; पृ०—५५; रामानन्दयति वाचस्पति मिश्र के मत को स्वीकार करते हैं—स्थूलमेव शालिग्रामादिकं ध्यानेन साक्षात्करोति ।—म०प्र०, पृ०—२३ जबकि भोजदेव एवं भावागणेश प्रभृति व्याख्याकारों ने विज्ञानभिक्षु के मत का समर्थन किया है—महाभूतेन्द्रियाणि स्थूलानि ।—भो०वृ०, पृ०—४१; तत्र भूतेन्द्रिययोरश्रुतामताशेषविशेषसाक्षात्कारे वितर्कपरिभाषा ।—भा०ग०वृ०, पृ०—२१

चित्तवृत्तियों के निरोध के इस स्तर में चिन्तन का विषय स्थूल है, जो स्थूल भूतों का विकार होने से स्थूलभूत रूप है। इस स्तर के चिन्तन में स्थूलभूत, उनके कारण तन्मात्रा, तथा प्रमाण—बाह्य एवं आन्तर करण और प्रमाता आत्मा चारों आधार प्रकाशित हैं। तात्पर्य हैं—साधारणज्ञान व चिन्तन आदि में प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय की जो स्थिति होती है, वही स्थिति योग के इस स्तर में रहती है। अन्तर केवल इतना है, कि साधारण स्थिति में वृत्तियों का विषय बदलता रहता है, पर समाधि के इस स्तर में वृत्ति के विषय बदलने की स्थिति आने पर नये विषय को दूर करने का प्रयास रहता है, तथा पूर्वानुवृत्त विषय में ही चित्त को पुनः रोकने का प्रयत्न किया जाता है। तब तक ही बाह्य—विषय की ओर लगे रहने की चित्तवृत्ति का आत्मा अनुभव करता है। इस प्रकार समाधि के प्रारम्भिक स्तर के इस चिन्तन में प्रमाता, प्रमाण, सूक्ष्म तथा स्थूल प्रमेय चारों आधार स्पष्ट रहते हैं।^१

२. विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि

व्यासदेव के अनुसार सूक्ष्म पदार्थ विषयक जो समाधि का स्तर होता है उसे विचारानुगत की श्रेणी में माना जाता है।^२ सूक्ष्म पदार्थों के अन्तर्गत एक सूत्र में अव्यक्त प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों की गणना सूत्रकार ने की है।^३ वृत्तिनिरोध—अभ्यास के अधिक उन्नत होने पर जब चिन्तनधारा में से स्थूल प्रमेय और उसके ग्राहक प्रमाण—बाह्य इन्द्रिय निकल जाते हैं, अर्थात् जब सूक्ष्म प्रमेय में चिन्तन स्थिर होने लगता है, (स्थूल प्रमेय और उसके ग्रहण—साधन, चिन्तन की स्थिरता के लिये अपेक्षित नहीं रहते) तब योग के इस स्तर को 'विचारानुगत' संप्रज्ञात समाधि कहते हैं।^४

१. यो०द०, पृ०—३०—३१

२. सूक्ष्मो विचारः।—व्या०भा०, पृ०—५४

३. सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्।—यो०सू०, १/४५

४. यो०द०, पृ०—३१

निरन्तर अभ्यास के द्वारा चित्त में सत्त्व का आधिक्य होने पर वह क्षमता उभर आती है, जिससे सूक्ष्म विषयों में चित्त स्थिर हो जाता है। 'विचारानुगत' संप्रज्ञात समाधि में जब शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध रूप सूक्ष्म तन्मात्राओं एवं अन्तःकरण रूप विषयों को आलम्बन का विषय बनाकर, उस सूक्ष्म विषय के देश, काल, धर्म आदि से अवच्छिन्न जब भावना होती है तब 'सविचार' संप्रज्ञात समाधि होती है। उस ही आश्रय में (सूक्ष्मतन्मात्राओं एवं अन्तःकरण के सम्बन्ध में) देश, काल, धर्म इत्यादि सम्बन्ध के बिना ही केवल धर्मी को प्रकाशित करने वाली, भावना की जाती हुई निर्विचार समाधि इस रूप से कही जाती है।^१

३. आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि

चित्तवृत्ति निरोध के लिये अनुष्ठित निरन्तर अभ्यास से अधिक उन्नत अवस्था में पहुँचने पर चित्तगत रजस्-तमस् क्षीण हो जाने से सत्त्व का उद्रेक हो जाता है। समाधि के इस स्तर में चिन्तनधारा के आलम्बन स्थूल सूक्ष्म प्रमेय तथा उनके ग्रहण साधन बाह्य-आन्तर करण कोई नहीं होते, केवल सत्त्वप्रधान बुद्धि और आत्मा जड़-चेतन के भेद का साक्षात्कार करते हैं। इस विवेकज्ञान से आत्मा को एक आनन्दानुभूति होती है। योग के इस स्तर का नाम 'आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि' है। इसमें सत्त्वाधिक्य होने पर भी चित्त रजस्-तमस् अंश मात्र से अनुविद्ध रहता है।^२

४. अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि

संप्रज्ञात समाधि की चतुर्थावस्था अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि है। व्यासदेव ने

१. तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना, तदा सविचारः। तस्मिन्नेवावलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं बिना धर्मीमात्रावभासित्वेन भावना क्रियामाणा निर्विचार इत्युच्यते।—भो०वृ०, पृ०-२६

२. रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते।—वही, पृ०-२६

अस्मिता की परिभाषा—‘एकात्मिका संविदस्मिता’ इस प्रकार दी है।^१ वाचस्पति मिश्र ग्रहीता पुरुष एवं बुद्धि में एकात्मकता को ही अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि का विषय मानते हैं।^२ रामानन्दयति ने भी उसी का अनुसरण किया है।^३ परन्तु विज्ञानभिक्षु तथा उनके अनुयायी भावागणेश एवं नागेशभट्ट ‘शुद्ध आत्मा’ को ही इस अवस्था का विषय मानते हैं। उनके मत में ‘एकात्मिका’ का अर्थ तादात्म्य न होकर ‘मात्र एक आत्मा ही है। अर्थात् मात्र आत्मा का ज्ञान ही इस अवस्था में साधक को होता है अन्य किसी का नहीं।^४ योग की उक्त स्थिति प्राप्त होने पर पुनः अधिक निरन्तर अभ्यास से जब शेष रजस्—तमस् लेश और क्षीण होने लगता है, सत्त्व का प्रकाश बढ़ जाता है, तब ऐसे शुद्ध चित्त के सहयोग से आत्म—स्वरूप का साक्षात्कार होता है। योग की इस दशा में चिन्तनधारा में आलम्बन केवल आत्मा होता है। तब साधक अपने शुद्ध—बुद्ध आत्मरूप का ‘अस्मि’ इस अनुभूति के साथ साक्षात्कार करता है। इस आधार पर योग के इस स्तर को ‘अस्मितानुगत’ संप्रज्ञात समाधि कहा जाता है। यहाँ शान्त शुद्ध—बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यह साक्षात्कार चित्त के सहयोग से होता है।^५

१. यो०भा०, पृ०—४५

२. सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित् ।—त०वै०, पृ०—५५

३. तेषां कारणं बुद्धिः पुरुषेण ग्रहीत्रैकीभूता सती अस्मिता तस्या ध्यानेन साक्षात्कारोऽप्यस्मितोच्यते ।
—म०प्र०, पृ०—२३

४. (क) एकशब्दोऽत्र केवलवाची, एकात्मिका । एक एवात्माऽस्यां विषयत्वेनास्तीत्येकात्मिका ।
—यो० वा०, पृ०—५६—५७

(ख) तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमस्ति तदन्यतटस्याशेषविशेषसाक्षात्कारे
अस्मितासंज्ञा ।—भा०ग०वृ०, पृ०—२१

(ग) अत्रास्मिताशब्देन विविक्तचेतनाकारमात्रोपलक्ष्यते ।—ना०भ०वृ०, पृ०—२२

५. भो०वृ०, पृ०—२६;

आत्मा को शुद्ध—बुद्ध—मुक्त स्वभाव वाला कहा गया है। सांख्य में अशुद्ध वह तत्त्व है, जो परिणामी है, चेतन आत्मा परिणामी न होने से शुद्धस्वभाव है। ‘बुद्ध’ पद से आत्मा के चेतन स्वभाव को अभिव्यक्त किया गया है ।—सां०सू०—१/१६

असंप्रज्ञात समाधि

परवैराग्य के सतत अभ्यास, अनुष्ठान द्वारा समस्त चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर, जो केवल संस्कार शेष रूप अवस्था चित्त की है, वही असंप्रज्ञात समाधि है—“विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः”^१ चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाना ‘विराम’ का अर्थ है। इस स्थिति में चित्त विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होता। यह स्थिति चित्तवृत्तिनिरोध के कारणों का निरन्तर अभ्यास करते रहने से प्राप्त होती है। यह उत्कृष्ट परवैराग्य का स्तर है। विषयों के प्रति वैराग्य ही चित्त-वृत्तियों के निरोध का उपाय है। विषयों की उपस्थिति में जब किसी भी प्रकार से उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता, यही चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध है। विषयों में चित्त की प्रवृत्ति ही चित्तवृत्ति है। विषयों की ओर चित्त का व्यापार यद्यपि पूर्णरूप से समाप्त हो जाता है, पर उनके संस्कार बने रहते हैं। यह ‘असंप्रज्ञात’ समाधि का स्वरूप है।^२

असंप्रज्ञात समाधि के भेद

भवप्रत्यय एवं उपाय प्रत्यय के भेद से असंप्रज्ञात समाधि के दो भेद माने गये हैं।^३ उपाय प्रत्यय के द्वारा ही योगी अव्यवहित रूप से कैवल्य प्राप्त कर पाता है।

भवप्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि

विदेह एवं प्रकृतिलयों को होने वाले योग को भवप्रत्यय कहा गया है।^४ वाचस्पति मिश्र के मतानुसार जो साधक भूत अथवा इन्द्रियों में से किसी एक को आत्मा समझ कर उसी की उपासना करते रहते हैं वे मरणोपरान्त उन उपास्य पदार्थों में ही लीन हो जाते हैं। क्योंकि वे स्थूल देह से रहित होकर मात्र संस्कार शेष चित्त के द्वारा

१. यो०सू०, १/१६

२. यो०द०, पृ०-३४

३. स खल्वयं द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च।—व्या०भा०, पृ०-५६

४. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।—यो०सू०, १/१६

ही कैवल्य पद के समान अनुभव करते हैं। अतः उन्हें विदेह कहा जाता है।^१ विज्ञानभिक्षु के मत में हिरण्यगर्भादि विदेह कहे जाते हैं क्योंकि वे स्थूल देह के बिना लिंग शरीर के द्वारा ही समस्त व्यवहारों को करने में समर्थ होते हैं।^२ इनके मत में प्रकृति के अतिरिक्त अन्य सभी तत्त्वों के चिन्तक इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। क्योंकि इन्होंने मात्र प्रकृति अथवा ईश्वर तत्त्व की उपासना करने वाले को प्रकृतिलय माना है।^३ जबकि वाचस्पति मिश्र ने भूत एवं अन्य इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों के चिन्तकों को प्रकृतिलय की श्रेणी में रखा है।^४ वाचस्पति मिश्र के कथन में सम्भवतः इस सन्दर्भ को लेकर स्ववचन विरोध दृष्टिगोचर होता है क्योंकि सांख्यतत्त्वकौमुदी में उन्होंने मात्र प्रकृति की उपासना करने वालों को ही प्राकृतिक बन्ध होता है ऐसा कहा है तथा प्रकृति के विकार रूप महद्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राओं के चिन्तकों को वैकारिक।^५

वाचस्पति मिश्र ने 'भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति भवोऽविद्या' इस व्युत्पत्ति के आधार पर भव का अर्थ अविद्या करते हुए सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि विदेह एवं प्रकृतिलयों की निरोध समाधि अविद्यामूलक है।^६

१. भूतेन्द्रियाणामन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तः करणाः पिण्डपातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीररहिता विदेहाः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः प्राप्नुवन्तो विदेहाः।—त०वै०, पृ०-५६-६०
२. (क) शरीरनैरपेक्ष्येण बुद्धिवृत्तिमन्तो विदेहाः।—यो०वा०, पृ०-६१
(ख) तत्र विदेहानाम् स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः।—यो०सा०सं०, पृ०-१०
३. ईश्वरोपासनया प्रकृतिदेवतोपासनया वा ये ब्रह्माण्डं सावरणं त्यक्त्वा लिङ्गशरीरेण सह प्रकृत्यावरणे गताः तेऽत्र प्रकृतिलीनाः।—यो०वा०, पृ०-६१
४. तथा प्रकृतिलयाश्चाव्यक्तमहदहंकारपञ्चतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेन पन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणैः पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादिनामन्यतमे लीनाः।—त०वै०, पृ०-६०
५. तत्र प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः।—सां०त०कौ०, १७६
६. भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति भवोऽविद्या,....स खल्वयं भवः प्रत्ययः कारणं यस्य निरोधसमाधिः स भवप्रत्ययः।—त०वै०, पृ०-५६; विज्ञानभिक्षु—'भवो जन्म तदेव प्रत्ययः कारणं यस्येति विग्रहः' इस आधार पर सूत्र का अर्थ करते हैं। उनके अनुसार जिस निरोध समाधि का कारण जन्म हो वह भवप्रत्यय कहलाती है। सूत्रार्थ यह है कि विदेह एवं प्रकृतिलयों को जन्म से ही उक्त समाधि प्राप्त होती है।—यो०वा०, पृ०-६१

उपायप्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि

शास्त्रोक्त उपायों के द्वारा सम्पन्न होने वाला असंप्रज्ञात समाधि उपायप्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

उपाय प्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि के पाँच उपाय

महर्षि पञ्चजलि ने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि एवं प्रज्ञा ये पाँच उपाय बताये हैं।^१ जिनका अभ्यास करने से साधक असंप्रज्ञात समाधि को सिद्ध कर सकता है। श्रद्धा से तात्पर्य भाष्यकार व्यासदेव संप्रसाद मानते हैं। तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को जानने की उत्कटेच्छा ही श्रद्धा कहलाती है।^२ वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह श्रद्धा जिसको संप्रसाद कहा गया है, यथार्थ तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करते हुए ही हो सकती है। जो इन्द्रियादि में आत्मतत्त्व की कल्पना करते हैं, उनमें श्रद्धा का होना सम्भव नहीं है क्योंकि उनकी अभिरुचि व्यामोहमूलक ही होती है।^३ श्रद्धा के फलस्वरूप साधक विभिन्न विधनों के होने पर भी योगमार्ग से विचलित नहीं होता।^४ श्रद्धायुक्त मुमुक्षु में वीर्य का उदय होता है। वीर्य से तात्पर्य विज्ञानभिक्षु धारणा रूप प्रयत्न विशेष को मानते हैं,^५ वीर्य के दृढ़ हो जाने पर अर्थात् धारणा का अभ्यास कर लेने पर ध्यान रूप स्मृति का उदय होता है।^६ तात्पर्य यह है कि जब साधक धारणा को सिद्ध कर लेता है तो ध्यान करने में समर्थ होकर उसका अभ्यास करने लगता है। ध्यान रूप

१. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।—यो०सू०, १/२०

२. श्रद्धा चेतसः संप्रसादः।—व्या०भा०, पृ०—६२

३. नेन्द्रियादिष्वात्माभिमानिनामभिरुचिरसंप्रसादो हि सः, व्यामोहमूलत्वादित्यर्थः।—त०वै०, पृ०—६२

४. सा च समर्था मातेव योगिनं पाति प्रति बन्धसहस्राणि तिरस्कृत्य रक्षति, यथा योगभङ्गो न भवतीत्यर्थः।—यो०वा०, पृ०—६३

५. वीर्यं प्रयत्नो धारणारूपो भवतीत्यर्थः।—वही

६. (क) समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरूपतिष्ठते—व्या०भा०, ६२

(ख) स्मृतिर्ध्यानम्।—त०वै०, पृ०—६२

(ग) वीर्यतश्च स्मृतिर्ध्यानम्।—यो०वा०, पृ०—६३

स्मृति के दृढ़ हो जाने पर अष्टांग योग के अन्तर्गत अन्तिम अंग समाधि का अभ्यास करने में समर्थ हो जाता है।^१ इस प्रकार इन तीनों अन्तरंग साधन धारणा, ध्यान एवं समाधि का श्रद्धापूर्वक पालन करने पर जब साधक का चित्त एकाग्र हो जाता है तो विवेक ज्ञान रूप प्रज्ञा का आविर्भाव होता है।^२ उस प्रज्ञा का अभ्यास करने से तद्विषयक वैराग्य हो जाने पर क्रमशः असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाता है।^३

इन उपायों के अनुष्ठान में संवेग की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर भेद होने से फलप्राप्ति में भी तीव्रता एवं मन्दता पाई जाती है।^४

इस प्रकार चित्त की वृत्तियों के निरोध द्वारा साधक स्थूल विषय पर चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करके वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मितागुत संप्रज्ञात योग की सीढ़ी पर चढ़ता हुआ विवेकज्ञान को प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर धर्ममेघ समाधि की स्थिति में दृढ़ता को प्राप्त कर उस विवेकख्याति के प्रति भी वैराग्य हो जाने पर साधक असंप्रज्ञात समाधि को सिद्ध कर लेता है, उस अवस्था में असंप्रज्ञात समाधि के संस्कारों द्वारा संप्रज्ञात के संस्कारों का अभिभव कर दिया जाने पर अन्त में निरोध समाधि के संस्कार भी क्षीण हो जाते हैं और साधक तब अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही उसका कैवल्य है।

१. (क) स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते।—व्या०भा०, पृ०—६२

(ख) ततश्च समाधिर्योगस्य चरमाङ्गं भवति।—यो०वा०, पृ०—६३

२. तदेवमखिलयोगाङ्गसंपन्नस्य संप्रज्ञातो।—त०वै०, पृ०—६२

३. तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति।—व्या०भा०, पृ०—६२

४. तीव्रसंवेगानामासन्नः।—यो०सू०, १/२१; वाचस्पति मिश्र संवेग का अर्थ वैराग्य से करते हैं। अर्थात् इन उपायों का अनुष्ठान करते हुए जो बाह्य पदार्थों के प्रति वैराग्य होता है, उसमें मृदु, मध्य एवं तीव्रता के आधार पर ही समाधि लाभ तथा उसका फल प्राप्त होता है। परन्तु विज्ञानभिक्षु ने संवेग का अर्थ तीव्रता से लिया है। उनके अनुसार उक्त उपायों के अनुष्ठान में तीव्रता होने पर शीघ्र समाधि लाभ एवं समाधि फल की प्राप्ति होती है। हरिहरानन्द आरण्य ने इन दोनों के अर्थों का समन्वय करते हुए व्याख्या की है कि वैराग्य के कारण जो उपायों के अनुष्ठान में कुशलता एवं तीव्रता होती है वही संवेग पद से अभिप्रेत अर्थ है।—त०वै०, पृ०—६४; भा०, पृ०—६१—६२

क्रियायोग का चित्तवृत्तिनिरोध में महत्त्व

चित्तवृत्तिनिरोध के उपायरूप में अभ्यास-वैराग्य के साथ क्रियानुष्ठान का उल्लेख सूत्रकार ने किया है। इसका सर्वोच्च अथवा सर्वश्रेष्ठ स्वरूप 'ईश्वरप्रणिधान' है। सूत्रकार ने साधनपाद में क्रियायोग पद से इसका उल्लेख किया है। क्रियायोग एक पारिभाषिक पद है। तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इन तीनों क्रियाओं को सामूहिक रूप में क्रियायोग कहा जाता है।^१

तप

व्यासदेव के अनुसार द्वन्द्वों को सहना तप है, द्वन्द्व से तात्पर्य क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्णता, आसन-स्थान तथा काष्ठमौन एवं आकारमौन आदि हैं।^२ वाचस्पति मिश्र के अनुसार तप उतना ही करना चाहिए जितने से धातु-वैषम्य न हो।^३ विज्ञानभिक्षु प्रसन्नता के अविरोधी तप को उचित मानते हैं।^४ भावार्थ यह है कि तप उतना ही किया जाना चाहिये जितने से चित्त प्रसन्न रहे और आत्मा तथा शरीर की शुद्धि हो सके।

तप के द्वारा अनादिकालीन अशुद्धि का क्षय होने से शरीर एवं इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।^५ यह अशुद्धि अनादिकालीन कर्म एवं क्लेश की वासनाओं से चित्रित है तथा उसके फलस्वरूप ही विभिन्न विषय-समूह प्रस्तुत होकर चित्त को आकृष्ट कर लेते हैं।^६ वाचस्पति मिश्र के अनुसार त्रिगुणात्मक चित्त में जब सत्त्वगुण को अभिभूत कर रज एवं तमोगुण का उद्रेक हो जाता है तब वह दशा ही चित्त की अशुद्धि

१. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।—यो०सू०, २/१

२. तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च।—व्या०भा०, पृ०—२४७

३. तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं न यावता धातुवैषम्यमापद्येतेत्यर्थः।—त०वै०, पृ०—१३७

४. तच्च तपश्चित्तप्रसादाविरोधि मृद्वेवानेन योगिना कर्तव्यमिति परमर्षिभिर्मन्यत इत्यर्थः।—यो०वा०, पृ०—१४८

५. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।—यो०सू०, २/४३

६. अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिः।—व्या०भा०, पृ०—१३६

कहलाती है।^१ तप के द्वारा साधक के चित्त में धीरे-धीरे इन गुणों का अभिभव एवं साथ ही साथ सत्त्वगुण का आधिक्य होता जाता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार पापात्मक चित्त की अशुद्धि ही विषयजाल को प्रस्तुत करती है तथा वे विषय-समूह चित्त को चंचल बना देते हैं जिससे साधक चित्त को एकाग्र नहीं कर पाता। अतएव योग विरोधी होने से विषयों के प्रति आसक्ति ही चित्त की अशुद्धि है।^२ तप के महत्त्व को बताते हुए भाष्यकार व्यासदेव ने यहाँ तक कहा है कि जो तपस्वी नहीं है उसे योग सिद्ध हो ही नहीं सकता।^३

स्वाध्याय

क्रियायोग के अन्तर्गत दूसरा तत्त्व स्वाध्याय है। स्वाध्याय से तात्पर्य यह है कि साधक प्रणव आदि पवित्र मन्त्रों का जप करें तथा मोक्षप्रद शास्त्रों का निरन्तर अध्ययन करता रहे। वाचस्पति मिश्र प्रणव आदि की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि पुरुष सूक्त, रूद्रमण्डल एवं ब्राह्मणादि वैदिक ग्रन्थ तथा ब्रह्मपरायण पौराणिक ग्रन्थों का अध्ययन ही स्वाध्याय है।^४

ईश्वर-प्रणिधान

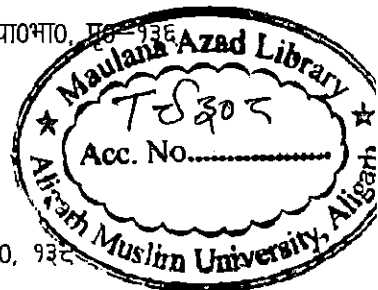
क्रियायोग के मध्य वर्णित तीनों क्रियाओं में ही ईश्वर-प्रणिधान का सर्वाधिक महत्त्व है।^५ क्रियायोग एवं नियम दोनों के अन्तर्गत ही इसका प्रधान-रूप से वर्णन किया गया है।

समाधि-पाद के अन्तर्गत एक स्थल पर तथा साधन-पाद के अन्तर्गत दो स्थलों

-
१. अशुद्धी रजस्तमः समुद्रेकः।—त०वै०, पृ०—१३६
 २. अशुद्धीः पापाख्या प्रत्युपस्थापितविषयजालतया योगविरोधिनी तपो बिना न संभेदं तनुतामापद्यत इत्यर्थः।—यो०वा०, पृ०—१३८
 ३. नातपस्विनो योगः सिध्यति।—व्या०भा०, पृ०—१३६
 ४. प्रणवादयः पुरुषसूक्तरूद्रमण्डलब्राह्मणादयो वैदिकाः पौराणिकाश्च ब्रह्मपरायणादयः।—त०वै०, पृ०—१३७
 ५. एतेषु दशसु मध्य ईश्वरप्रणिधानस्य मुख्यतो योगाङ्गत्वमिति प्रतिपादानाय निर्विघ्नपरमात्मयोगहेतुत्वं तस्याह—श्लोकेन शय्यासनेति।—यो०वा०, पृ०—२४६

पर ईश्वर—प्रणिधान का उपदेश साधक के लिये किया गया है।^१ समाधि पाद में वर्णित ईश्वर—प्रणिधान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने लिखा है—तज्जपः तदर्थभावनम्।^२ किन्तु साधनपाद के अन्तर्गत किसी भी स्थल पर इसके स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु भाष्यकार व्यासदेव ने दोनों स्थलों पर इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समस्त कर्मों का उस परमगुरु में समर्पित करना अथवा किये हुए कर्मों के फल का संन्यास ही ईश्वर—प्रणिधान है।^३ वाचस्पति मिश्र ने यहाँ परम—गुरु का अर्थ ईश्वर करते हुए उसमें ही समस्त कर्म—फलों को समर्पित करने को कहा है।^४ इस प्रसंग में गीता के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं जिसमें अर्जुन को समस्त कर्मों को उन्हीं में समर्पित करने का उपदेश दिया गया है।^५ विज्ञानभिक्षु के मतानुसार लौकिक तथा वैदिक समस्त क्रियाओं का अन्तर्यामी परमेश्वर में समर्पित करना ही ईश्वर—प्रणिधान है।^६ ईश्वर—प्रणिधान का महत्त्व अन्य योगांगों से एवं क्रियायोग के दोनों तत्त्वों तप एवं स्वाध्याय से भी अधिक है। स्वयं सूत्रकार के अनुसार ईश्वर प्रणिधान के द्वारा समाधि की सिद्धि होती है।^७

१. तीनों स्थलों पर वर्णित ईश्वर प्रणिधान एक ही है या अलग—अलग? इस शंका का समाधान करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि प्रथम पाद में जिस ईश्वर—प्रणिधान का उपदेश दिया गया है वह भावना—रूप है उससे अतिरिक्त क्रियायोग एवं अष्टांगयोग दोनों में वर्णित है। ईश्वर—प्रणिधान को यहाँ भी भावना रूप क्यों न माना जाए, इसका कारण देते हुए विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार लिखा है—ईश्वर—भावना तो ध्यान स्वरूप है अतएव वह अन्तरंग ही है और यहाँ सर्वकर्मों का ईश्वर में अर्पण करना रूप जो ईश्वर—प्रणिधान है उसका मुख्य ध्येय ईश्वर न होकर कर्मों का अर्पण है अतः यह बहिरंग है इस कारण दोनों को एक ही नहीं माना जा सकता।—यो०वा०, पृ०—१३८, २४६
२. यो०सू०, १/२६
३. (क) ईश्वर—प्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।—व्या०भा०, पृ०—१३६
(ख) ईश्वर—प्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।—वही, पृ०—२४७
४. परमगुरुः भगवानीश्वरः तस्मिन्।—त०वै०, पृ०—१३७
५. यत्कारोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।—गीता
६. लौकिकवैदिकासाधारण्येन सर्वकर्मणां परमेश्वरेऽन्तर्यामिण्यर्पणमित्यर्थः।—यो०वा०, १३८
७. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।—यो०सू०, २/४५



चित्तवृत्तिनिरोध में क्रियायोग के अनुष्ठान का प्रयोजन

क्रियायोग का प्रयोजन क्लेशों को तनू करना तथा समाधि को सिद्ध करना है।^१ भाव यह है कि क्रियायोग के निरन्तर अभ्यास से अविद्या आदि पाँचों क्लेश सूक्ष्म हो जाते हैं, जो धीरे-धीरे साधक की समाधि सिद्धि में सहायक होता है।^२ विज्ञानभिक्षु के अनुसार निष्काम-रूप से किया जाता हुआ कर्मयोग उन विषयों से (जो कि योग में बाधक हैं) चित्त को हटाता हुआ चित्त को पापरहित करता है। फिर क्रमशः सत्त्वगुण का उद्रेक होता है जिसके द्वारा अन्य पदार्थों में भी एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। साथ ही क्रियायोग बुद्धि को शुद्ध करके अभ्यास ही अविद्या आदि क्लेशों को भी अल्प कर देता है।^३ विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि क्रियायोग क्योंकि मोक्ष एवं ज्ञान आदि का साधन है अतएव वह ज्ञान आदि के अंग के रूप में ही मोक्ष का कारण जानना चाहिए साक्षात् नहीं।^४

क्रियायोग वाचस्पति मिश्र के अनुसार उत्तम अधिकारी के लिये न होकर व्युत्थित चित्त वाले साधक के लिये है। परन्तु विज्ञानभिक्षु ने मध्यम अधिकारी के लिये माना है। इसका उपदेश उत्तम अधिकारी के लिये न किये जाने का कारण देते हैं—क्रियायोग के फलरूप जो क्लेशों की तनुता एवं समाधि की सिद्धि कही गई है वह उत्तम अधिकारियों को तो जन्मतः प्राप्त होती ही है।^५ इसलिये उनके लिये यह उचित नहीं है।

१. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।—यो०सू०, २/२
२. एतदुक्तं भवति—एते तपः प्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्त गतानविद्यादीन् क्लेशाञ्छिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते ।—भो०वृ०, पृ०—३; क्लेशों के तनूकरण की उपयोगिता को वाचस्पति मिश्र ने बहुत अच्छी तरह से व्यक्त किया है, कि विवेकख्याति अत्यन्त सशक्त विरोधी क्लेशों से घिरी हुई है, वह तब तक उदित नहीं हो सकती जब तक कि उन क्लेशों का बन्धन शिथिल न हो। वह उन क्लेशों के तनूकरण द्वारा ही सम्भव है, अतएव क्लेशों को यदि क्षीण नहीं किया जायेगा तो विवेकख्याति अनुदित होने पर किस प्रकार क्लेशों को दग्धबीज कर सकेगी। अतः विवेकख्याति के उचित होने में सहायक होने से क्लेशों के तनूकरण का पर्याप्त महत्त्व है ।—त०वै०, पृ०—१४०
३. यो०वा०, पृ०—१४०
४. वही, पृ०—१४६
५. वही, पृ०—१४०

चित्त में संस्काररूप में विद्यमान क्लेश त्रिविध दुःख का कारण है

क्लिशन्ति इति क्लेशः इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिसके द्वारा प्राणी दुःख को प्राप्त करते हैं, वे क्लेश कहे जाते हैं। भोजदेव के मतानुसार क्लेश बाधना रूप पीड़ा देने वाला है।^१ तात्पर्य यह है कि इन क्लेशों के द्वारा ही प्राणी त्रिविध तापों को भोगता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार भी दुःखदायक होने के कारण अविद्यादि क्लेश कहे जाते हैं।^२ ये क्लेश संस्कार रूप से चित्त में विद्यमान रहते हैं यद्यपि उस काल में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव प्राणी नहीं करता परन्तु भविष्य में ये दुःख के कारण बनेंगे यह जानते हुए विवेकी इन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। रागादि के द्वारा भी उनके व्यवहार काल में सामान्यजन दुःख को नहीं जान सकते परन्तु विवेकी उस राग के कारण भविष्य में होने वाले दुःख को जान लेता है इसलिये कहा गया है कि विवेकी के लिये सब दुःखपूर्ण ही है।^३

संस्कार से दृष्ट अथवा अदृष्ट की सहायता में क्लेश वृत्तिरूप में परिणत होते हैं और चित्त को विभिन्न प्रकार के कार्यों में संलग्न करके क्लेशमूलक कर्माशय को बनाते हैं जिसके द्वारा गुणों का अधिकार और अधिक सुदृढ़ हो जाता है। क्लेशमूलक कर्माशय जाति, आयु एवं भोग का हेतु है।^४ वे क्लेश, गुणों के विषम परिणाम के कारण बनते हैं। इन फलों को प्रदान करने हेतु ये परस्पर अनुग्रह के द्वारा कार्य सम्पन्न करते हैं।^५ विज्ञानभिक्षु के मतानुसार ये अविद्यादि क्लेश ही एक-दूसरे से अनुगृहीत होकर अर्थात् एक-दूसरे की सहायता करते हुए स्थिर होते हैं।^६

१. ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवति।—भो०वृ०, ३६

२. क्लेशाख्यदुःखत्वादविद्याऽऽदीनां क्लेशपरिभाषा तान्त्रिकी।—यो०वा०, पृ०—१४२

३. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।—यो०सू०, २/२५

४. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।—वही, २/१३

५. गुणानां परिणामं वैषम्यरूपमवस्थापयन्ति निर्वर्तयन्ति, ततश्च महदादिरूपकार्यकारणप्रवाहमुन्मययन्ति प्रवर्तयन्ति।—यो०वा०, पृ०—१४२

६. अविद्यातो रागो रागाच्चाविद्येत्येवमादिरूपान्योन्यानुग्रहाधीना भूत्वेत्यर्थः।
अन्योन्यसाहित्येनैव हि क्लेशानां स्थैर्यं भवति।—वही

क्लेश के भेद

योग दर्शन में पाँच क्लेश बताये गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश।^१

अविद्या

कुछ विद्वान् विद् धातु से निष्पन्न मानते हुए यथार्थ ज्ञान से भिन्न ज्ञान को अविद्या मानते हैं। सूत्रकार के अनुसार वह अनित्य, अशुचि, दुःख एवं अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्यत्व, शुचित्व, सुख एवं आत्मतत्त्व का ज्ञान कराने वाला है।^२ भोजदेव के मतानुसार जिसमें जो धर्म नहीं है उसका भान अविद्या है।^३ गरुड़ पुराण में भी अनात्म, असत् एवं दुःख रूप पदार्थों में क्रमशः आत्मा, सत् एवं सुखात्मक ज्ञान ही माया—रूपिणी अविद्या कहा गया है।^४ अविद्या के निम्नलिखित भेद होते हैं—

अनित्य में नित्य का ज्ञान

विज्ञानभिक्षु अनित्य से तात्पर्य ऐसे पदार्थों से मानते हैं जो कि एक निश्चित कालावधि पर्यन्त ही रहते हों तथा उसके पश्चात् नष्ट हो जाते हों।^५ अर्थात् वे पदार्थ जो काल की सीमा से परे हैं उनका कभी नाश नहीं होता वे ही नित्य हैं अन्य अनित्य। अनित्य पदार्थों को भ्रमवश नित्य मानने से होने वाले दुष्परिणाम को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि कुछ उपासक पंचभूतों अथवा रुचिभेद के अनुरूप सूर्य, चन्द्र, तारे अथवा द्युलोकादि को नित्य मानते हैं, इस कारण उनकी प्राप्ति हेतु या उसमें लय होने के लिये विभिन्न साधनों का अनुष्ठान करते हैं^६ जिसके परिणाम स्वरूप वे

१. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।—यो०सू०, २/३

२. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।—वही, २/५

३. अतस्मिंस्तदिति प्रतिभासोऽविद्या ।—भो०वृ०, पृ०—१४७

४. यो०वा०, पृ०—१४६

५. अनित्यत्वसत्त्वं कालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमिति यावत् ।—वही, पृ०—१४६

६. त०वै०, पृ०—१४७—१४८

उन्हीं में लीन होकर कुछ काल पर्यन्त ही कैवल्य पद के समान अनुभव कर पुनः संसार में आ जाते हैं, अर्थात् अपने वास्तविक लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। यही अनित्य में नित्य ज्ञान रूप अविद्या है।

अशुचि में शुचि का ज्ञान

अपवित्र पदार्थों को पवित्र मान कर व्यवहार करना भी अविद्या ही है। जिस प्रकार अत्यन्त अपवित्र शरीर को पवित्र मानना।^१ व्यासदेव शरीर की अपवित्रता को दूर करने हेतु वैयासिकी गाथा को उद्धृत करते हैं—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निघनादपि।

कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः।।^२

वाचस्पति मिश्र ने इस अपवित्रता का स्पष्टीकरण इस रूप में किया है—शरीर अपवित्र है क्योंकि उत्पत्ति का मूल स्थल मल—मूत्रादि से युक्त माता का उदर है, तथा उपादान कारण माता एवं पिता का रजो—वीर्य रूप मलिन बीज है। उस शरीर की स्थिति का आधार माता द्वारा खाये—पीये गये अन्न जलादि के परिपाक से जन्य अपवित्र रस होता है। शरीर के नवद्वार तथा रोम कूपों से निरन्तर पसीना एवं मल—मूत्रादि प्रवाहित होता रहता है, इस कारण भी वह अपवित्र ही है। इसके अतिरिक्त मृत्यु के उपरान्त सभी का शरीर अपवित्र माना जाता है चाहे वह शूद्र हो या वेदपाठी ब्राह्मण, क्योंकि उसको स्पर्श करने मात्र से ही स्नान का विधान शास्त्रों में किया गया है। अतएव ऐसे अत्यन्त अपवित्र शरीर को जलादि से धोकर तथा अंगरागादि का लेपन कर पवित्र हुआ जानना भी अज्ञान है, यही दूसरे प्रकार की अविद्या है।^३ विज्ञानभिक्षु भी इन्हीं कारणों से शरीर को अपवित्र मानते हैं।^४

१. तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिः।—व्या०भा०, पृ०—१४७

२. वही

३. त०वै, पृ०—१४८

४. यो०वा०, पृ०—१५०

दुःख में सुख का ज्ञान

सामान्यजन को कुछ पदार्थ सुखदायक प्रतीत होते हैं तो कुछ दुःखदायक परन्तु वास्तव में सभी पदार्थ दुःखदायक होते हैं क्योंकि परिणाम, ताप एवं संस्कार दुःखों के कारण तथा गुणों के परस्पर मिलकर कार्य करने से रजोगुण का प्रत्येक पदार्थ में होना भी उनकी दुःख-मिश्रितता को स्पष्ट करता है। यही कारण है कि विवेकी पुरुष के लिये सब कुछ दुःख ही कहा गया है।^१ अतः अज्ञानवश इस दुःख रूपी संसार को जो सामान्यजन सुखों की खान समझकर इसमें ही रहना चाहता है अथवा यहाँ के विभिन्न पदार्थों को सुख साधन मानता हुआ उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है इसे तृतीय प्रकार की अविद्या समझना चाहिए। विज्ञानभिक्षु ने संसार को दुःखों का सागर बताते हुए लिखा है जो साधक सामान्य दुःखों के प्रतिकार को ही तात्त्विक परमार्थ सुख का साधन मानते हैं वे इस प्रकार की अविद्या से ग्रस्त हैं।^२ भावागणेश एवं नागेशभट्ट भी दुःख पूर्ण संसार में सुख का ज्ञान ही अविद्या मानते हैं।^३

अनात्म में आत्म-ज्ञान

अपने वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने पर उसकी वृत्तियों को अपनी मानता हुआ^४ स्वयं को कर्ता, भोक्ता आदि मानने लगता है जिसके कारण वह सुख अथवा दुःख का अनुभव करता है। यही अनात्म में आत्म-ख्याति रूप अविद्या है। इसके अतिरिक्त स्थूलता एवं सूक्ष्मता के आधार पर

१. तथा दुःखे सुखख्याति वक्ष्यति-परिणाम-तापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या।-व्या०भा०, पृ०-१४७

२. जगद्रूपदुःख इत्यर्थः.....दुःखनिवृत्त्याख्यतात्त्विकसुखसाधनत्वबुद्धिः। तथा दुःखमेव सुखप्रचुरत्वबुद्धिश्च तृतीयाऽविद्येति बोध्यम्।-यो०वा०, पृ०-१५०

३. (क) दुःखप्रचुरत्वाद्दुःखे जगति सुखप्रचुरबुद्धिस्तृतीयाऽविद्या।-भा०ग०वृ०, पृ०-६५

(ख) सुखस्यापि दुःखतया वक्ष्यमाणत्वात्तन्मये जगति सुखबुद्धिः।-ना०भ०वृ०, पृ०-६६

४. वृत्तिसारूप्यमितरत्र।-यो०सू०, १/४

दृष्टिकोण के कारण विभिन्न दार्शनिक शरीरादि में ही आत्मा की कल्पना कर लेते हैं,^१ जो नितान्त भ्रान्त ज्ञान है और संसार चक्र में भ्रमण का कारण बनता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार शरीर से अतिरिक्त बाह्य उपकरणों में या पुत्रादि में जो अहं बुद्धि है, एवं विषय भोग का अवच्छेदक होने से अन्तःकरण के उपकरण शरीर में अथवा पुरुष के भोग का साक्षात् साधन होने से अन्तःकरण में जो अहं बुद्धि होती है वह अविद्या स्वरूप ही है।^२ इसके फलस्वरूप पुरुष अपने को कर्ता, भोक्ता इत्यादि समझने लगता है। इस कारण वह पुण्य-अपुण्य का भागी होकर जाति, आयु एवं भोग रूप फल की प्राप्ति हेतु पुनः पुनः संसार में जन्म लेता रहता है, इस प्रकार यह चतुर्थ प्रकार की अविद्या संसार में जन्म लेने का मूल कारण है।^३

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश रूप जो पाँच क्लेश हैं उनमें अविद्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह अन्य चारों क्लेशों की भी उत्पत्ति स्थल रूप कही गई है।^४ व्यासदेव ने मात्र इसे प्रसव भूमि ही कहा है।^५ इसका कारण देते हुए भोजदेव लिखते हैं—क्योंकि विपर्यय ज्ञान रूप अविद्या के रहने पर ही उनका उद्भव होता है अतः उन्हें अविद्या मूलक कहा गया है।^६ भावागणेश एवं नागेशभट्ट और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जिन अनात्म पदार्थों में व्यक्ति को आत्मत्व का भ्रम होता है अर्थात् व्यक्ति उनमें अहं अथवा मम बुद्धि रखता है उनके प्रति ही उसे तत्पश्चात् रागादि होता है। इस प्रकार वह अस्मिता एवं रागादि का कारण है।^७

-
१. तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बोह्योपकरणेषु चेतना चेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मख्यातिरिति।—व्या०भा०, पृ०—१४७
 २. बाह्य देहस्योपकरणेषु पुत्रादिष्वहंबुद्धितया विषयभोगावच्छेदकतयाऽन्तःकरणे शरीरेऽहंबुद्धिस्तथा भोग्यतया साक्षात्पुरुषस्योपकरणेऽन्तःकरणेऽहं बुद्धिरित्यर्थः।—यो०वा०, पृ०—१५०
 ३. अहं कर्त्तव्याद्यभिमानस्यैव धर्माधर्मोत्पत्तिद्वाराऽखिलजगद्धेतुत्वात् इति।—वही
 ४. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।—यो०सू०, २/४
 ५. अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां.....।—या०भा०, पृ०—१४२
 ६. विपर्ययज्ञानसदभावे च तेषामुद्भवदर्शनाप्तिरतमेव मूलत्वमविद्यायाः।—भो०वृ०, पृ०—१४१
 ७. (क) यदेव हि वस्तु अहं ममेत्यविद्याविषयो भवति तत्रैव रागादिकं भवतीति।
—भा०ग०वृ०, पृ०—६४
(ख) ना०भ०वृ०, पृ०—६४

अस्मिता एवं राग

रागादि की अपेक्षा वाचस्पति मिश्र अस्मिता को वरिष्ठ मानते हैं जो कि अविद्या का सर्वप्रथम कार्यरूप है।^१ वाचस्पति मिश्र अस्मिता के विषय में लिखते हैं—‘दृक् च दर्शनं च, ते एव शक्ति, तयोरात्मनात्मनोरनात्मन्यात्मज्ञानलक्षणाविद्यापादिता चैकात्मतैव न तु परमार्थत एकात्मता सास्मिता।’^२

अविद्या एवं अस्मिता के मध्य भेद का स्पष्टीकरण करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि अविद्या काल में जो एकात्मकता की प्रतीति होती है वह भेदाभेद रूप होती है। अर्थात् उसमें पूर्ण रूप से अभेद का ग्रहण नहीं होता। परन्तु अस्मिता काल में बुद्धि एवं पुरुष में बुद्धि के गुणों का आरोप होने के कारण वह स्वयं को कर्ता एवं भोक्ता आदि समझने लगता है।^३

सुख का अनुभव होने के अनन्तर उसकी अनुस्मृति के कारण तद्विषयक जो तृष्णा है वही राग कही जाती है।^४ वाचस्पति मिश्र अस्मिता के अनन्तर राग का उल्लेख किये जाने के कारण देते हुए लिखते हैं क्योंकि विवेक ज्ञान हो जाने पर अविद्या की निवृत्ति होने से, अविद्या मूलक अस्मिता के उच्छेद की अनन्तर ही रागादि का उच्छेद सम्भव है। इसी कारण सूत्रकार ने अस्मिता के पश्चात् राग का उल्लेख किया है।^५ वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु दोनों ही टीकाकारों ने व्यासदेव द्वारा प्रयुक्त गर्ध, तृष्णा, लोभ आदि पदों को राग का पर्यायवाची माना है।^६

१. अविद्यामुक्त्वा तस्याः कार्यमस्मितां रागादिवरिष्ठामाह ।—त०वै०, पृ०—१५१

२. वही,

३. अविद्यातश्चास्मिताया अयं भेदो यद् बुद्ध्यादावादौ या सामान्यतोऽहंबुद्धिश्च भेदाभेदनाप्युपपद्यतेऽत्यन्ताभेदाग्रहणात् सैवाविद्या न तु तदुत्तरकालीनः पुरुषे बुद्ध्यादिगुणदोषारोप ईश्वरोऽहमहं भोगीत्यादिरूपः, न वा दूरस्थवनस्पत्योरिव तयोरत्यन्तमेकताम्रमः ।—यो०वा०, पृ०—१५२

४. सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ।—व्या०भा०, पृ०—१५३

५. विवेकदर्शने रागादीनां विनिवृत्तेरविद्यापादितास्मितारागादीनां निदानमित्यस्मितानन्तरं रागादील्लक्षयति ।—त०वै०, पृ०—१५३

६. (क) अनुशायिपदार्थमाह—य इति ।—त०वै०, पृ०—१५३

(ख) पर्यायै रागशब्दार्थमवधारयति—गर्ध इत्यादिना ।—यो०वा०, पृ०—१५४

द्वेष

जिस प्रकार सुख एवं उसके साधनों के प्रति राग कहा गया है, ठीक उसी प्रकार दुःख एवं सुख के साधनों के प्रति जो स्वाभाविक घृणा अथवा क्रोध है उसी को द्वेष नामक क्लेश कहा जाता है।^१

अभिनिवेश

जीवन के प्रति जो उत्कट अभिलाषा है वही अभिनिवेश क्लेश कही गई है, तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी चाहे वह मूर्ख हो या विद्वान्, बालक हो या वृद्ध, कोई भी मरना नहीं चाहता वरन् अपनी दीर्घायु की इच्छा करता है, यह आत्माशी ही अभिनिवेश क्लेश कही गई है।^२ यह दुःखमूलक है ऐसा व्यासदेव ने स्वयं स्पष्ट किया है।^३ यही कारण है कि इसका वर्णन दुःखमूलक द्वेष के अनन्तर किया है, ऐसा विज्ञानभिक्षु का मत है।^४

यह अभिनिवेश रूप क्लेश संस्कार मात्र से जन्म-जन्मान्तर में प्रवहणशील है।^५ विद्वानों को भी इस क्लेश से युक्त होना कहा गया है^६ जो योग-दर्शन में वर्णित विद्वान् की दशा से विरोधी प्रतीत होता है क्योंकि विद्वान् को अविद्या की निवृत्ति के कारण किसी भी क्लेश से मुक्त मानना तर्क विरुद्ध है। वाचस्पति मिश्र के मतानुसार विद्वान् का तात्पर्य यहाँ संप्रज्ञात योग सम्पन्न विवेकख्यातियुक्त नहीं समझना चाहिये

१. दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिधो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति।

—व्या०भा०, पृ०—१५४

२. सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति।—वही, १५४

३. मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मज्ञः पूर्वजन्मानुभूतं मरणादुःखमनुमापयति।—वही

४. द्वेषमूलकतया द्वेषस्य पश्चादभिनिवेशं लक्षयति।—यो०वा०, पृ०—१५५

५. (क) स्वभावेन वासनारूपेण वहनशीलो न पुनरागन्तुकः।—त०वै०, पृ०—१५५

(ख) स्वरसेन संस्कारमात्रेण वहतीति स्वरसवाही।—यो०वा०, पृ०—१५५-१५६

६. स्वरसेन विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।—यो०सू०, २/६

वरन् श्रुति स्मृति आदि के द्वारा जिन्होंने ज्ञान को प्राप्त किया है अर्थात् उसका साक्षात्कार नहीं किया है उन्हें जानना चाहिये।^१

क्लेशों की अवस्थाएँ

सूत्रकार ने क्लेशों की चार अवस्थाएँ बताई हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार।^२

प्रसुप्तावस्था

क्लेशों का शक्तिमात्र से बीजभाव को प्राप्त होकर पड़े रहना ही उसकी प्रसुप्ति कही जाती है।^३ वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह दशा विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों की होती है क्योंकि निश्चित अवधि के पश्चात् पुनः उनके क्लेशों की अर्थक्रियाकारिता पाई जाती है।^४ विज्ञानभिक्षु इनसे अस्मितादि की अनागतावस्था मानते हैं।^५ इन क्लेशों का आविर्भाव आलम्बन के सम्मुख आने पर हो जाता है ऐसा दोनों टीकाकार एक मत से स्वीकार करते हैं।^६ यही विवेकख्यातियुक्त योगियों के क्लेशों की अवस्था में इसमें अन्तर है, क्योंकि उनके क्लेश दग्धबीजभाव रूप पञ्चमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं अतः विषयों के सम्मुख आने पर भी उसका प्ररोह नहीं होता।^७

तनु अवस्था

प्रतिपक्ष की भावना से युक्त क्लेश तनु कहे जाते हैं। प्रतिपक्ष के रूप में क्रियायोग को तो वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु दोनों ही टीकाकारों ने स्वीकार किया

१. न संप्रज्ञातवाचिद्वानपि तु श्रुतानुमितविवेक इति भावः ।—त०वै०, पृ०—१५५

२. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।—यो०सू०, २/४

३. तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः ।—व्या०भा०, पृ०—१४२

४. मा नामार्थक्रियां कार्षुः क्लेशा विदेहप्रकृतिलयानाम् ।—त०वै०, पृ०—१४३

५. चेतसि शक्तिमात्रेणानागतावस्थितानामस्तिदीनां बीजभावोपगमः स्वकार्यजननसामर्थ्यं प्रसुप्तिरित्यर्थः ।—यो०वा०, पृ०—१४४

६. (क) त०वै०, पृ०—१४३

(ख) यो०वा०, पृ०—१४४

७. प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति ।—व्या०भा०, पृ०—१४२

है। परन्तु वाचस्पति मिश्र के द्वारा सम्यक्ज्ञान, भेददर्शन, माध्यस्थ्य तथा अनुबन्ध-बुद्धिनिवृत्ति क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश के जो प्रतिपक्ष कहे गये हैं^१ विज्ञानभिक्षु को वे सम्भवतया पूर्णाभिमत नहीं हैं।^२ क्लेशों की तनु अवस्था का उद्देश्य बताने हेतु विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि क्लेश तनु होने पर विवेकख्याति के आविर्भाव में बाधक नहीं होते।^३

विच्छिन्नावस्था

किसी एक क्लेश की उदारावस्था काल में अन्य क्लेशों का अभिभूतावस्था में पड़े रहना ही उनकी विच्छिन्नावस्था कही जाती है। ये क्लेश थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् आलम्बन को प्राप्त कर उदारावस्था में आ जाते हैं,^४ विच्छिन्न एवं प्रसुप्तावस्था में भेद दर्शाते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि विच्छिन्नावस्था में पड़े हुए क्लेशों की अनभिव्यक्ति अल्पावधि के लिए ही होती है जबकि प्रसुप्तावस्था में पड़े क्लेश जन्म जन्मान्तर में कभी अभिव्यक्त होते हैं अर्थात् कई-कई जन्मों तक ये अपनी अनभिव्यक्तावस्था में पड़े रहते हैं।^५

उदार अवस्था

क्लेश जब अपने व्यापार में संलग्न होते हैं तो उनकी उदारावस्था कही जाती है।^६ यद्यपि उदारावस्था युक्त क्लेश ही कष्टदायक होते हैं परन्तु अन्य अवस्थाओं में क्लेश भी धीरे-धीरे उदारावस्था को कभी न कभी प्राप्त होते ही हैं अतः वे भी कष्टदायक होने से क्लेश कहे जाते हैं, ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है।^७

१. क्लेशप्रतिपक्षः क्रियायोगस्तस्य भावमनुष्ठानं तेनोहतास्तनवः। अथवा सम्यग्ज्ञानविद्यायाः— अभिनिवेशस्येति।—त०वै०, पृ०-१४३

२. यो०वा०, पृ०-१४५

३. तनवो विवेकख्यातिबन्धाक्षमा भवन्ति।—वही, पृ०-१४५

४. तथा विच्छिद्यविच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः।—या०भा०, पृ०-१४२

५. यो०वा०, पृ०-१४५

६. विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः।—व्या०भा०, १४३

७. क्लेशविषयत्वं क्लेशपदवाच्यत्वं नातिक्रामन्त्युदारतामापद्यमानाः।—त०वै०, पृ०-१४४

चित्तस्थित अविद्या का नाश के लिए अष्टांग योग

अष्टांग योग का निरन्तर अभ्यास करने से साधक के चित्त में विद्यमान पंचपर्वा अविद्या रूपी मल शनैः शनैः समाप्त हो जाने पर ज्ञान—आत्मसाक्षात्कार का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।^१ अभ्यासाधिक्य से एक दिन साधक का चित्त पूर्ण—रूप से मल—रहित हो जाता है तथा दूसरी ओर इसके फलस्वरूप यह विवेकख्यातिसम्पन्न होकर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अष्टांग योग का अनुसरण करने से साधक निम्न—स्तर से क्रमशः उच्च—स्तर पर उठता हुआ परमानन्द की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।^२

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये अष्टांग योग हैं।^३ वाचस्पति मिश्र के अनुसार अन्य साधकों के लिए वर्णित अभ्यास, वैराग्य श्रद्धा एवं वीर्य आदि साधनों का भी इनमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।^४ किस अंग में कौन—सा साधन अन्तर्निहित माना जा सकता है इसे स्पष्ट करते हुये विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि वैराग्य का संतोष में, श्रद्धा आदि का तप आदि में एवं परिकर्मों का धारणा, ध्यान एवं समाधि में अन्तर्भाव हो जाता है।^५

अष्टांग योग को योगाँग भी कहा जाता है।

यम

‘यम’ शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए योगसुधाकर में लिखा है—“हिंसादिभ्यो

१. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।—यो०सू०, २/२८
२. By regulating and controlling the body, the senses and the mind through these eight steps, man has to raise himself from a lower to a higher stage leading to complete bliss.
—Damodaran, K. Indian thought: A critical survey, P. 169
३. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।—यो०सू०, २/२६
४. अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथायोगमेतेष्वेव स्वरूपतो नान्तरीयकतयान्तर्भावयितव्याः।
—त०वै०, पृ०—२४२
५. तत्र वैराग्यस्य संतोषे प्रवेशः, श्रद्धाऽऽदीनां च तपआदिषु, परिकर्मणां च धारणाऽऽदित्रिक इति।
—यो०वा०, पृ०—२४२

निषिद्धकर्मभ्यो योगिनं यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः।^१ पातञ्जलरहस्य में मन और इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकने को यम कहा गया है।^२ सामान्यतः मन और इन्द्रियों को विषयों से निवर्तित करने को यम कहा जा सकता है। यह विशेषरूप से इन्द्रियसंयम को लक्षित करता है। यम के पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।^३

(क) अहिंसा

महर्षि व्यास ने अहिंसा का लक्षण देते हुए लिखा है—“तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।”^४ अर्थात् शरीर, वाणी, और मन से प्राणों पर विपत्ति आने पर भी सभी प्राणियों के प्रति पीड़न बुद्धि से रहित होना अहिंसा है। पतञ्जलि के कथनानुसार अहिंसा व्रत के दृढ़ हो जाने पर योगी के समीप सभी प्राणी अपनी जन्मजात शत्रुता का परित्याग कर देते हैं।^५ वाचस्पति मिश्र के मतानुसार जिस योगी को अहिंसा की सिद्धि हो गई है उसकी सन्निधि में शाश्वतिक विरोध वाले अहि—नकुल आदि भी वैर का त्याग कर देते हैं।^६

(ख) सत्य

व्यासदेव ने सत्य की विशद व्याख्या की है—मन और वचन की एकरूपता सत्य है अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण के द्वारा क्रमशः जैसा देखा, जैसा अनुमान

१. यो०सु०, पृ०-४२

२. यम उपरम इत्यस्य रूपं यमा इति, उपरम्यन्ते निवर्त्यन्ते मनसेन्द्रियाणीति यमाः। पा०२०, पृ०-२४७

३. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।—यो०सू०, २/३०

४. व्या०भा०, पृ०-२४२

५. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।—यो०सू०, २/३५

६. शाश्वतिकविरोधा अप्यश्वमहिषमूषकमार्जारहिनकुलादयोऽपि भगवतः प्रतिष्ठिताहिंसस्य संनिधानात्तद्वित्तानुकारिणो वैरं परित्यजन्तीति।—त०वै०, पृ०-२५५

किया और जैसा सुना वैसा ही मन और वाणी की क्रिया का होना सत्य है। यदि यथार्थवादी का प्रयोग किसी का उपघात करने वाला हो तो वह सत्य नहीं है, पाप है। पुण्य के समान प्रतीत होने वाला सत्य मानव के लिये अतिशय कष्ट देने वाला है। अतः (परीक्ष्य) परीक्षा करके अर्थात् सोच-विचार कर सर्वभूतहित कारक सत्य बोलना चाहिए।^१ सत्य बोलने वाले के कह देने मात्र से क्रियाफल की सिद्धि हो जाती है।^२ सत्य बोलने से मन शुद्ध हो जाता है और वाणी में अमोघता आ जाती है।

(ग) अस्तेय

व्यासदेव ने अस्तेय का लक्षण देते हुए लिखा है—“अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिबन्धः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।”^३ अर्थात् शास्त्रविधि के बिना दूसरों से द्रव्य स्वीकार करना स्तेय है, इसका प्रतिषेध अर्थात् दूसरों के द्रव्यों का ग्रहण की स्पृहा न होना अस्तेय कहा जाता है। सामान्यतः मन, वाणी और शरीर के द्वारा दूसरों के पदार्थों की स्पृहा न करना अस्तेय कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि कायिक और वाचनिक व्यापार मानस व्यापार पर आश्रित हैं। अतः चोरी न करना मात्र ही अस्तेय नहीं है अपितु दूसरों के पदार्थों की मन के द्वारा स्पृहा न करना भी अस्तेय है।^४ अस्तेय (चोरी के परित्याग) में दृढ़ स्थिति हो जाने पर समस्त रत्नों की उपस्थिति हो जाती है। सब उत्तम पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं।^५ साधक भौतिक साधनों के प्रति निःस्पृह हो जाता है। वह त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति बन जाता है।

-
१. सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे।...तन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।—व्या०भा०, २४३
 २. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।—यो०सू०, २/२६
 ३. व्या०भा०, पृ०—२४३
 ४. मानसव्यापारपूर्वकत्वाद्वाचनिकायिकव्यापारयोः प्रधान्यान्मनोव्यापार उक्तोऽस्पृहारूपमिति।—त०वै, पृ०—२४४
 ५. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।—यो०सू०, २/३७

(घ) ब्रह्मचर्य

व्यासभाष्य के अनुसार नर या नारी के द्वारा गुप्तेन्द्रिय पर संयम रखना ब्रह्मचर्य कहा जाता है।^१ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। पतञ्जलि का कथन है हि ब्रह्मचर्य के पालन से वीर्य लाभ होता है।^२ उनके इस कथन की व्याख्या करते हुए नारायणतीर्थ लिखते हैं कि वीर्य के निरुद्ध हो जाने पर शरीर, इन्द्रिय तथा मन आदि की शक्ति में वृद्धि होती है। वे कुण्ठित नहीं होते हैं। उर्ध्वरेता के मुख पर एक विशेष प्रकार का तेज आविर्भूत हो जाता है।^३ ब्रह्मचर्य—पालन से साधक को अनेक सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है। व्यासदेव के मतानुसार 'सिद्ध' पुरुष ही शिष्यों को ज्ञान देने में और उन्हें विनीत बनाने में समर्थ होता है।^४

(ङ) अपरिग्रह

अर्जन, रक्षण, क्षय, आसक्ति एवं हिंसादि अनेकों दोषों से युक्त जानते हुए विषयों को ग्रहण न करना अपरिग्रह है।^५ वाचस्पति मिश्र का मत है कि जो विषय शास्त्रीयरीति पूर्वक ग्रहण किये जाते हैं उनमें भी विभिन्न दोष हैं तो फिर अशास्त्रीय विषय जो कि बिना उद्यम के भी प्राप्त हुए हो निश्चय ही निन्दित साधनों के अधीन होने के कारण अर्जन—दोष युक्त होने से अस्वीकरणीय है।^६

१. ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः ।—व्या०भा०, पृ०—२४३

२. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः—यो०सू०, २/३८

३. यो०सि०च०, पृ०—७६

४. सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ।—व्या०भा०, पृ०—२५६

५. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः ।—व्या०भा०, २४३

६. अशास्त्रीयाणामयत्नोपनतानामपि विषयाणां निन्दितप्रतिग्रहादिरूपार्जनदोषदर्शनाच्छास्त्रीयाणां—मप्युपार्जितानां च रक्षणादिदोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः ।—त०वै०, पृ०—२४४

अपरिग्रह के सिद्ध हो जाने पर साधक को जन्मविषयक साक्षात्कार हो जाता है। पतञ्जलि के अनुसार—“अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः।”^१ अर्थात् अपरिग्रह के स्थिर हो जाने पर साधक वर्तमान जन्म के समान अतीत एवं अनागत जन्मों के विषय में भी जानने में समर्थ हो जाता है।

२. नियम

सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने नियम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—‘नियमन्तीति प्रेरयन्तीति नियमाः।’^२ अर्थात् जो व्यक्ति को प्रेरणा देते हैं वे नियम कहे जाते हैं। नियम पाँच प्रकार के हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।^३

(क) शौच

शौच के दो अवन्तर भेद हैं—बाह्यशौच और आभ्यन्तर शौच।

बाह्यशौच

महर्षि व्यास बाह्यशौच का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—“तत्र शौचं मृज्जलादि—जनितं मेध्याभ्यावहरणादि च बाह्यम्।”^४ अर्थात् मिट्टी एवं जल आदि से बाह्यशुद्धि होती है। पवित्र और सात्त्विक भोजन करने से रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर साधक में सात्त्विक वृत्ति का उदय होता है जो उसकी साधना को सुदृढ़ कर देती है।

आभ्यन्तरशौच

मद, राग, मात्सर्य, ईर्ष्या, असूया और अमुदिता आदि चित्त के मल हैं, चित्त को इन मलों से दूर रखने का नाम आभ्यन्तर शौच है।^५ मैत्री, करुणा एवं मुदिता से चित्त

१. यो०सू०, २/३६

२. यो०सुधा० पृ०—४३

३. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। —यो०सू०, २/३२

४. व्या०भा०, पृ०—२४७

५. अभ्यान्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।—वही

प्रसन्न हो जाता है। मद और मान आदि का परित्याग कर देने से साधक का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उसमें पुरुष के स्वरूप को पहचानने की योग्यता आ जाती है।^१

(ख) सन्तोष

जो विषय प्राप्त हो गये हैं उनसे अधिक की इच्छा न करने का नाम सन्तोष है।^२ सन्तोष के कारण साधक किसी वस्तु के न मिलने पर विषाद नहीं करता है। वह प्राप्त हुई वस्तु को ही पर्याप्त समझता है। सन्तोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।^३

(ग) तप

तप का अनुष्ठान करने से शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय हो जाता है।^४

(घ) स्वाध्याय

मोक्ष प्रतिपादक ग्रन्थों अर्थात् उपनिषद् आदि का अध्ययन तथा प्रणव आदि का जप स्वाध्याय कहलाता है।^५ स्वाध्याय करने वाले साधक को इष्ट देवता के दर्शन हो जाते हैं और वे उसके सभी कार्यों को सिद्ध कर देते हैं।^६

(ङ) ईश्वर प्रणिधान

परमगुरु परमेश्वर में सभी कर्मों को अर्पित कर देने का नाम ईश्वर प्रणि-

१. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यै० कायेन्द्रिय जयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।—यो०सू०, २/४१

२. सन्तोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा ।—व्या०भा०, पृ०—२४७

३. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।—यो०सू०, २/४२

४. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।—वही, २/४३

५. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा ।—व्या०भा०, पृ०—२४७

६. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।—यो०सू०, २/४४

धान है।^१ ईश्वर प्रणिधान से विघ्न बाधाएं दूर हो जाती हैं। साधक को प्रत्यक् चेतना का अधिगम हो जाता है और उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है।^२

३. आसन

पतञ्जलि के मतानुसार शरीर जिस स्थिति में सुखपूर्वक एवं स्थिर रहे उसे आसन कहा जाता है।^३ व्यासभाष्य में पद्मासन तथा वीरासन आदि ११ प्रमुख आसनों का उल्लेख है।^४ हृदयोगप्रदीपिका में चार को ही प्रमुख माना है। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में सिद्धासन और पद्मासन को ही सबसे अधिक उपयोगी माना है।^५ कुछ विद्वान् आसनों को अगणीय मानते हैं। इस विषय में विज्ञानभिक्षु का विचार है कि जितनी जीव-जातियाँ हैं उतने ही आसन हो सकते हैं।^६

शरीर की स्वस्थता और चित्त एकाग्रता के लिये आसन परम् उपयोगी है। जिसे आसन की सिद्धि हो जाती है उसे शीतोष्णादि द्वन्द्व अभिभूत नहीं करते हैं।^७

४. प्राणायाम

प्राणायाम का निरूपण करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने लिखा हैं—“तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।”^८ उसके (आसन के) सिद्ध हो जाने पर श्वास प्रश्वास में स्वाभाविक गति के विच्छेद को प्राणायाम कहा जाता है। व्यासदेव ने इसकी

१. ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सवकर्मापणम्।—व्या०भा०, पृ०—२४७

२. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।—यो०सू०, २/४५
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च।—वही, १/२६

३. स्थिर सुखमासनम्।—वही, २/४६

४. तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्गकौज्यनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि।—व्या०भा०, २६१

५. यो०सि०च०, पृ०—८७

६. यावद्यो जीवजातयस्तावन्त्येवासनानीति संक्षेपः।—यो०वा०, पृ०—२६२

७. ततो द्वन्द्वानभिघातः।—यो०सू०, २/४८

८. वही, २/४६

व्याख्या करते हुए लिखा है कि बारह की वायु को भीतर ले जाना श्वास कहलाता है और कोष्ठगत वायु का बारह निःसारण प्रश्वास कहा जाता है। इन दोनों की गति विच्छेद अर्थात् उभयाभाव होने पर प्राणायाम की सिद्धि होती है।^१

प्राणायाम के प्रमुख तीन भेद हैं—(१) रेचक (२) पूरक तथा (३) कुम्भक।^२ कुछ विद्वान् इसका चतुर्थ भेद भी स्वीकार करते हैं।^३ अभ्यास और काल के आधार पर इसे अवान्तर भेद भी कहा जाता है। प्राणवायु को बाहर निकाल कर जितनी देर तक उसे बाहर रोका जा सके, इस वायुरोध के प्रयत्न को रेचक प्राणायाम कहा जाता है। इसे बाह्यवृत्ति कहा जाता है। बाहर की वायु को खींचकर भीतर रोकने का नाम पूरक है। इसे आन्तरवृत्ति कहा जाता है। प्राणवायु को वह जहाँ पर है वहीं पर उसकी गति को अवरुद्ध कर देने का नाम कुम्भक है। इसे स्तम्भवृत्ति कहा जाता है।^४ पतञ्जलि के मतानुसार प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर ज्ञान के प्रतिबन्धक अविद्या आदि क्लेश एवं तज्जन्य पाप क्षीण हो जाते हैं।^५ मन के द्वारा ज्ञान धारण करने की योग्यता प्राप्त कर ली जाती है।^६ व्यासदेव ने अपने भाष्य में एक पद्य उद्धृत किया है जिसका भाव प्राणायाम से मलशुद्धि हो जाती है। इसके द्वारा ज्ञान भी प्रदीप्त हो उठता है।^७

५. प्रत्याहार

प्रत्याहार के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने लिखा

१. बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः । कौष्ठस्य वायोर्निः सारणं श्वासः । तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः ।
—व्या०भा०, पृ०—२६३
२. त०वै०, पृ०—२६३
३. यो०सू०, २/५०—५१
४. यत्र बाह्यो वायुराचम्यान्तर्धार्यते पूरके तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः ।
यत्रापि कोष्ठयो वायुर्विरेच्य बहिर्धार्यते रेचके तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः । एवं कुम्भकेऽपीति ।—
त०वै०, पृ०—२६३
५. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।—यो०सू०, २/५२
६. धारणासु च योग्यता मनसः ।—वही, २/५३
७. तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।—व्या०भा०, पृ०—२७०

हैं—“स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।”^१ अर्थात् अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न रहने पर इन्द्रियों का चित्त के सदृश निरुद्ध सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार की सिद्धि हो जाने पर साधक की इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार जिस प्रकार यतमानसंज्ञक एकेन्द्रिय—जय होने पर योगी को अन्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये प्रयत्नान्तर की अपेक्षा रहती है यहाँ पर ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है,^२ जिसे महर्षि पतञ्जलि ने इन्द्रियों की परमावश्यता संज्ञा दी है।^३ शौच सन्तोष आदि यमों के अभ्यास काल में यद्यपि इन्द्रियाँ संयत रहती हैं परन्तु प्रत्याहार में वे पूर्णरूप में निरुद्ध हो जाती हैं और चित्त के स्वरूप का अनुकरण करने वाली बन जाती है। प्रत्याहार की सिद्धि से साधक इन्द्रियविजेता बन जाता है।

६. धारणा

पतञ्जलि ने धारणा को परिभाषित करते हुए लिखा है—“देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।”^४ अर्थात् किसी देश विशेष में चित्त को बाँधने का नाम धारणा है। विज्ञानभिक्षु ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—चित्त को समस्त विषयों से हटाकर जिस देश (स्थान विशेष) में ध्येय का चिन्तन करना है उस ध्यान के आधारभूत देश में चित्त को स्थिर करना ही धारणा है।^५ देश दो प्रकार के बताये गये हैं प्रथम आन्तरिक देश यथा नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धाज्योति, नासिकाग्र एवं जिह्वाग्र आदि।^६ दूसरा बाह्य देश—

१. यो०सू०. २/५४

२. यथा यतमानसंज्ञायामेकेन्द्रियजयेऽपीन्द्रियान्तरजयाय प्रयत्नान्तरमपेक्ष्यन्ते, न चैवं चित्तनिरोधे बाह्येन्द्रिय-निरोधाय प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः। त०वै० २७५

३. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्।—यो०सू०. २/५५

४. वही, ३/१

५. यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र ध्यानाधारदेशविषये चित्तस्य स्थापनं तदैकाग्रय धारणा।—यो०वा०, पृ०—२७८

६. नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु।—व्या०भा०, पृ०—२७५

धारणा का वह स्थान है जहाँ साधक प्रकृति के किसी भी विषय में चित्त को स्थिर कर सकता है। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या करते हुए हिरण्यगर्भ, वासुदेव एवं प्रजापति इत्यादि शुभाश्रयों को बाह्य ध्येय विषय माना है।^१ आध्यात्मिक देशों का वर्णन करते हुए भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त आदि के द्वारा तालु आदि अन्य शरीर के भागों का ग्रहण किया जाना चाहिये ऐसा भी वह मानते हैं।^२

७. ध्यान

पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति के विषय ज्ञान में अविच्छिन्न प्रवाह को ध्यान कहा है—
“तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।”^३ एकतानता से तात्पर्य है चित्त की एकाग्रता, ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है।^४ ध्यानावस्था काल में चित्त के सदृश-प्रवाह की उपमा निरन्तर प्रवाहित होने वाली तैलधारा से दी गई है।^५ व्यासदेव ने भी वृत्त्यान्तर से अबाधित सदृश-प्रवाह को ही ध्यान माना है।^६

ध्यान के काल को द्वादश-धारणा पर्यन्त मानते हैं और अपने मत की पुष्टि हेतु गरुड-पुराण से श्लोक भी उद्धृत करते हैं।^७ योगसारसंग्रह में भी इन्होंने ईश्वर-गीता से श्लोक उद्धृत कर अपने इसी मत को पुष्ट किया है।^८

धारणा एवं ध्यान में एक अन्य अन्तर यह है कि धारणा में वृत्तिमात्र के द्वारा देश-विशेष में चित्त को केन्द्रित किया जाता है जबकि ध्यान में उस स्थल पर ध्येय रूप

१. शुभाश्रया बाह्या हिरण्यगर्भवासवप्रजापति प्रभृतयः। त०वै०, पृ०-२७६

२. आदिशब्देन तात्वादयो ग्राह्याः।-वही, पृ०-२७७

३. यो०सू०, ३/२

४. एकतानतैकाग्रता।-त०वै०, पृ०-२७६

५. एकातानता तैलधारावेदकतानप्रवाहः।-भा०, पृ०-२८३

६. सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरावृष्टौ ध्यानम्।-व्या०भा०, पृ०-२७६

७. तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणाः। यो०वा०, पृ०-२८०

८. स काल ईश्वरगीतायामवधृत-‘धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादश धारणाः। ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते।-यो०सा०सं०, पृ०-४५

चतुर्भुजादि का चिन्तन किया जाता है।^१ धारणा से ध्यान का वैशिष्ट्य दिखाने के लिए ही भाष्यकार ने धारणा का लक्षण करते हुए 'वृत्तिमात्रेण' इस पद का प्रयोग किया है ऐसा विज्ञानभिक्षु का मत है।^२

८. समाधि

ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था को समाधि कहा जाता है।^३ पतञ्जलि ने धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों के लिए एक सामान्य नाम दिया है—संयम।^४ संयम की साधना से अनेक लाभ प्रतिपादित किये गये हैं। उसमें से मुख्य हैं—
'परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।'^५ अर्थात् पदार्थों के धर्म, लक्षण एवं अवस्थारूप परिणामत्रय में संयम करने से अतीत एवं अनागत का ज्ञान हो जाता है। संयम से प्रज्ञा प्रकाशित हो उठती है। प्रतिज्ञान उत्पन्न हो जाता है। संयम से विवेक (ज्ञान) भी उत्पन्न होता है। इस विवेक से कैवल्य की प्राप्ति होती है। अतः धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीनों अन्तरङ्गसाधन मोक्ष प्राप्ति के लिये परम उपयोगी माने जाते हैं।

-
१. यथा हृत्पुण्डरीकादौ चतुर्भुजादिचिन्तनम्, बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम्, कारणौपाधौ चेश्वरचिन्तनमिति।—वही, पृ०—४४
 २. वृत्तिमात्रेण न तु ध्येयकल्पनयेत्यर्थः तेन ध्यानादिव्यावृत्तिः।—यो०वा०, पृ०—२८०
 ३. तदा ध्यानमेव समाधिरुच्यते इत्यर्थः।—वही, पृ०—२८०
 ४. त्रयमेकत्र संयमः।—यो०सू०, ३/४
 ५. वही, ३/१६

तृतीय अध्याय

**न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन
की अवधारणा**

तृतीय अध्याय न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन की अवधारणा

‘मन्यते अनेन इति तन्मनः’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन केवल ज्ञान का साधन नहीं है, अपितु वह सुखादि साक्षात्कार के कारण होने के साथ ही बाह्यप्रत्यक्ष का मुख्य साधन है। नैयायिकों ने अन्तिम विशेषता पर ही अधिक बल दिया है, यद्यपि वे आन्तर साक्षात्कार को भी अस्वीकार नहीं करते। इस प्रकार मन में दोनों विशेषताएं हैं, वह सुखादि प्रत्यक्ष का असाधारण कारण है और बाह्यप्रत्यक्ष का साधन भी है। इस प्रकार मन स्वयं इन्द्रिय है और साथ ही अन्य इन्द्रियों का सहायक भी। चूंकि अन्य इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषय के प्रत्यक्ष का ही कारण है, अतः मन अन्य इन्द्रियों से भिन्न सिद्ध होता है।

विश्वनाथ के अनुसार सुखादि साक्षात्कार में जो मुख्य साधन (करण) है, उसे ‘मन’, कहते हैं।^१ तर्क-संग्रहकार अन्नंभट्ट के मतानुसार ‘सुख-दुःख’ आदि की उपलब्धि के साधन, इन्द्रिय को मन कहते हैं।^२ प्रस्तुत लक्षण में ‘उपलब्धि’ का तात्पर्य है—‘आन्तर साक्षात्कार’ तथा ‘साधन’ का अर्थ है—‘सहायक-कारण’। वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री के अनुसार इन लक्षणों में सुखादि का तात्पर्य है—‘आत्मा में विद्यमान वे सभी धर्म, जिनका साक्षात्कार केवल मन द्वारा होता है।’ अन्नंभट्टकृत लक्षण में इन्द्रिय पद का प्रयोग आत्मा और आत्ममनः संयोग में मन के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण के लिये है, किन्तु यदि लक्षण वाक्य में साधन पद का अर्थ केवल करण अर्थात्

१. ‘सुखादिसाक्षात्कारः करणसाध्यः।’—भा०प०, पृ०—८५

२. ‘सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।’—त०सं०, पृ०—५५

प्रधान साधन समझा जाए तो इन्द्रिय पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि आत्मा सुखादि का आश्रय है, प्रधान नहीं तथा आत्ममनः संयोग एक व्यापार मात्र है।

तर्कदीपिका में अन्नंभट्ट ने एक अन्य लक्षण दिया है। उनके अनुसार—‘मनसो लक्षणं च स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वम्।’ अर्थात् जो स्पर्शवान् न होते हुये भी क्रियावान् है, वह मन है।^१ यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से यह लक्षण निर्दोष है, किन्तु यह मन के स्वरूप को उतना स्पष्ट नहीं करता, जितना मूल तर्क-संग्रह का लक्षण। आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन पाँच पदार्थों में प्रथम चार तो सर्वव्यापक होने के कारण क्रियावान् हो नहीं सकते, केवल अन्तिम (मन) ही क्रियावान् है।

मन के अस्तित्व की सिद्धि

मन की सिद्धि के लिये न्याय में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—

- (१) विभु आत्मा और इन्द्रियों का नित्य सम्बन्ध है, तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों से सम्बद्ध होती हैं, फिर भी एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते, इसी से निश्चित होता है कि ‘मन’ है।^२
- (२) आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का कभी ज्ञान होना और कभी ज्ञान न होना मन के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण है।^३
- (३) आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ का सान्निध्य होते हुए भी ज्ञान सुखादि का पहले अभाव पुनः उत्पत्ति मन रूप करण की सिद्धि में प्रमाण है।^४
- (४) सुखादि का साक्षात्कार चूँकि जन्य साक्षात्कार है, अतः इसका करण भी अवश्य

१. त०सं०, पृ०-५४

२. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्—न्या०सू०, १/१/१६

३. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्—वै०सू०-३/२/१

४. प्र०पा०भा०, पृ०-५२

है, जैसे चाक्षुष साक्षात्कार में चक्षु रूप करण रहता है।^१

मन की सिद्धि के लिये विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गई युक्तियों में एक ही बात प्रमुख है कि आत्मा विभु है अतः आत्मा और इन्द्रिय के मध्य सम्बन्ध में कभी अन्तर सम्भव नहीं है अर्थात् इन्द्रियाँ चेतन आत्मा से नित्य सम्बद्ध हैं, अतः विषय का इन्द्रिय से जब भी सम्बन्ध हो, ज्ञान होना ही चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसके अतिरिक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से एक काल में ज्ञान नहीं होता। आत्मा और इन्द्रिय का तथा इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान होने न होने पर कोई कारण होना चाहिए, वह कारण ही 'मन' है। इसके अतिरिक्त आत्मा जब सुखादि का साक्षात्कार करता है, तो वहाँ कार्य और कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य करण (मुख्य साधन) का होना भी आवश्यक है, वह साधन ही मन है।

मन असंख्य है और प्रत्येक आत्मा के साथ नियत है।^२ वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री ने अन्नंभट्ट प्रयुक्त नियत शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'मन आत्मा में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध तथा असम्बद्ध भोग का कारण है' यह नियत शब्द का अर्थ है।^३ किन्तु नियत शब्द का यह तात्पर्य अधिक स्पष्ट है कि प्रत्येक मन एक-एक आत्मा से सम्बद्ध है और मृत्यु के बाद जन्मान्तर में भी वह उसके साथ रहता है, इसके फलस्वरूप ही विगत संस्कार उद्बुद्ध होते हैं। चूँकि मन अनन्त है अतः उनमें सामान्य धर्म के रूप में मनस्त्व जाति को स्वीकार किया जाता है।

-
१. सुखसाक्षात्कारः सकरणको जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषवदित्यनुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः। न्या०सि०मु०, पृ०-२१२
 २. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च।-त०सं०, पृ०-५६
 ३. 'अत्र समवेतकारणत्वे सत्यसमवेतभोगकारणत्वं नियतत्वशब्दार्थः।' -वा०वृ०।

मन अणु परिमाण वाला है

अन्य द्रव्यों की अपेक्षा मन की एक स्वतन्त्र विशेषता है कि वह अणु परिमाण वाला है।^१ अणु होने के कारण ही वह आत्मा और विषय के सम्बन्ध का कारण बन पाता है, जिसके फलस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्यथा विभु आत्मा का प्रत्येक विषय से नित्य सम्बन्ध है, फलस्वरूप उसे प्रत्येक विषय का ज्ञान होना चाहिए। मीमांसक मन को विभु मानते हैं, इस सम्बन्ध में उनकी युक्तियाँ निम्नलिखित हैं— (1) मन विभु है, क्योंकि वह आकाश के समान स्पर्श गुण रहित द्रव्य है।^२ (2) मन विभु है, क्योंकि वह काल के समान विशेष गुणों से रहित है।^३ (3) जैसे आत्मा ज्ञान के असमवायिकारण संयोग का आश्रय है एवं विभु है उसी प्रकार ज्ञान के असमवायिकारण संयोग का आश्रय होने से मन विभु है।^४

किन्तु नैयायिकों को मन का यह विभुत्व प्रिय नहीं है। वे कहते हैं कि मन को विभु मानने पर विभु मन प्रत्येक इन्द्रियों से एक साथ नित्य सम्बद्ध होगा। ऐसी स्थिति में समस्त विषयों का ज्ञान सार्वकालिक रूप से नित्य ही होना चाहिये। जहाँ एक साथ अनेक ज्ञान की प्रतीति होती है वहाँ प्रतीति भ्रान्त है।^५

इसके अतिरिक्त मन के विभु होने पर स्वप्न और सुषुप्ति का होना भी सम्भव न होगा, क्योंकि उन अवस्थाओं में भी इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग होने से ज्ञान की उत्पत्ति आवश्यक होगी। तर्कदीपिका में अन्नभट्ट ने इसी तर्क को दूसरे प्रकार

-
१. (क) तस्याणुत्वमिहेष्यते।—न्या०सि०मु०, पृ०—२१३
 (ख) त०सं०, पृ०—५६
२. मनो विभु। स्पर्शात्यन्ताभाववत्त्वादाकाशवत्।—वै०सू०उ०, पृ०—२३३
३. मनो विभु। विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् कालवत्।—वही,
४. मनो विभु। ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादात्मवत्।—वही
५. (क) न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः।—न्या०सू०, ३/२/५७
 (ख) भा०प०, पृ०—८५
 (ग) न विभु मनः। न्या०सि०मु०, पृ०—२१३

से प्रस्तुत किया है। वहाँ कहा गया है कि चूँकि संयोग दो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति को कहते हैं, अतः विभु आत्मा और विभु मन की अप्राप्ति कभी दृष्टिगत नहीं हो सकती (वे नित्य ही मिले हुए हैं), अतः उसके नित्य सम्पर्क को संयोग नहीं कहा जा सकता है। यदि दो पदार्थों का संयोग मान भी लिया जाए तो वह नित्य संयोग होगा, क्योंकि दो विभु पदार्थों को विभक्त करने वाला विभाग कभी सम्भव नहीं हैं, फलतः सुषुप्ति अवस्था नहीं मानी जा सकेगी। किन्तु मन को अणु मानने पर यह दोष नहीं रहता,^१ क्योंकि जब मन पुरीतत् नाड़ी में प्रवेश करता है, तब पुरीतत् नाड़ी से बाहर आत्मा एवं मन का इन्द्रियों द्वारा विषय से संयोग न होने से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु पुरीतत् नाड़ी से मन बाहर आने पर आत्मा एवं इन्द्रियों के साथ उसका सम्बन्ध होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा को विभु मानने के कारण यहाँ संदेह हो सकता है कि पुरीतत् नाड़ी में विद्यमान मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध है ही, अतः वहाँ ज्ञान का अभाव क्यों है? इसका समाधान स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये आत्मा और मन का संयोग के साथ ही मन और इन्द्रियों का संयोग भी आवश्यक होता है, पुरीतत् नाड़ी में विद्यमान मन का आत्मा के साथ संयोग तो अवश्य है किन्तु मन और इन्द्रियों का संयोग नहीं है। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ नियत स्थान पर रहने वाली हैं, अतएव मन का उनसे संयोग सम्भव नहीं है, सर्वशरीरव्यापी त्वगिन्द्रिय से संयोग का संदेह अवश्य ही सम्भव है, किन्तु नैयायिक पुरीतत् नाड़ी में त्वगिन्द्रिय की व्यापकता नहीं मानते,^२ अतः उस स्थिति में भी आत्मसंयुक्त मन का त्वगिन्द्रिय से संयोग का अभाव है, अतः सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान की सम्भावना नहीं हो सकती। साथ ही उद्बोधक के अभाव में सुषुप्ति अवस्था में स्मरण भी नहीं है।

१. तदभावादणु मनः।—वै०सू०, ७/१/२३

२. त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्यकारणमित्यर्थः।—न्या०सि०मु०, पृ०—६७

किन्तु एक समस्या रह जाती है, वह है सुख-दुःखादि की, क्योंकि इसके प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रिय और विषय के संयोग की आवश्यकता नहीं होती, एवं पुरीतत् नाड़ी में विद्यमान मन के साथ ही आत्मा का संयोग तो है ही। नैयायिकों ने इस समस्या का समाधान ज्ञान मात्र के प्रति त्वगिन्द्रिय और मन के अथवा इन्द्रिय और मन के संयोग को मान कर किया है।^१

सुषुप्ति

हृदय के निकट पुरीतत् नामक नाड़ी विशेष है। जब सुषुप्ति के अनुकूल मन में क्रिया होती, तब मन और इन्द्रियों के संयोग नाश होकर मन और इन्द्रियों का विभाग होता है। उसके अनन्तर मन का पुरीतत् नाड़ी से संयोग और उसमें मन की स्थिति होती है, इसे ही सुषुप्ति कहते हैं।^२

वस्तुतः विभु आत्मा से संयुक्त मन आदि द्रव्य का संयोग नित्य अथवा द्रव्य नाश के पूर्व क्षण तक मानना चाहिए, अर्थात् जब तक मन या आत्मा में से किसी एक का नाश नहीं होता, तब तक दोनों के संयोग का नाश सम्भव नहीं है। नैयायिक परम्परा में सुषुप्ति के प्रसङ्ग में आत्ममनः संयोगनाश में आत्मा का तात्पर्य विजातीय आत्मा से है, अर्थात् विषयसम्बद्ध इन्द्रियसंयुक्त आत्मा से मन के संयोग का नाश होता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी विशेषता से रहित तो शुद्ध आत्मा हुई, तथा विषयसम्बद्ध इन्द्रियसंयुक्त एक विशेष विजातीय आत्मा हुई। सुषुप्ति से पूर्व उस विशिष्ट आत्मा से मन के संयोग का नाश होता है। आत्ममनः संयोग नाश में इस विशिष्ट आत्मा से विभाग ही अपेक्षित है। इस प्रकार यह केवल कहने का प्रकार भेद

१. प्रथमतः सुषुप्त्यनुकूलमनःक्रियया मनसाऽऽत्मनो विभागः, तत आत्ममनः-संयोग नाशः, ततः पुरीतदात्मकोत्तरदेशेन मनसः संयोग उत्पद्यते, सैव सुषुप्तिः। दिनकर टीका, पृ०-१८४

२. त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्येकारणमित्यर्थः।-न्या०सि०मु०, पृ०-२६४

ही हुआ। सीधे शब्दों में इस आत्ममनः संयोग नाश और आत्ममनः विभाग के स्थान पर 'मन और इन्द्रिय के संयोग का नाश और मन इन्द्रिय विभाग' का कथन ही अधिक उपयुक्त होगा।

पुरीतत् नाड़ी या सुषुप्ति की यह कल्पना नैयायिकों का कोई निज आविष्कार नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद्^१ में भी सुषुप्ति का वर्णन मिलता है, उसके अनुसार 'मन हृदय से निकलकर बहत्तर हजार नाड़ियों से निकलता हुआ पुरीतत् नाड़ी में प्रवेश करता है, उस समय आत्मा को कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।

वेदान्ती पुरीतत् नाड़ी में मन का प्रवेश न मान कर जीव का प्रवेश मानते हैं, शेष प्रक्रिया दोनों में समान ही है। इसी पुरीतत् नाड़ी को योगी एवं वेदान्ती सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। इस नाड़ी का उच्चतम स्थान ब्रह्मरन्ध्र है। योगी पुरुष की आत्मा इसी मार्ग से शरीर से बाहर निकलती है।

मन इन्द्रिय है

नैयायिक मन को इन्द्रिय मानते हैं, यद्यपि गौतम और कणाद ने स्पष्ट रूप से मन के इन्द्रियत्व को कहीं स्वीकार नहीं किया, किन्तु उन्होंने इसका निषेध भी नहीं किया। आश्चर्य तो यह है कि गौतम ने शरीर का तो स्पष्ट लक्षण देते हुए उसे चेष्टा इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय कहा।^२ किन्तु वहीं इन्द्रिय के प्रसङ्ग में किसी प्रकार का लक्षण दिये बिना ही घ्राण, रसन, चक्षुः, त्वक् तथा श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों की गणना कर दी।^३ इन इन्द्रियों के स्वरूप और कार्य को देखकर न्यायदर्शन के भाष्यकार

१ अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न तस्य च वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते।—बृ०उ०, २/१/१६

२. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। न्या०द०, १/१/११

३. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि।—वही, १/१/१२

वात्स्यायन ने अवश्य ही 'अपने विषय के ग्रहण करने की क्षमता' को इन्द्रिय का लक्षण मान लिया है।^१ यही स्थिति कणाद की है, उन्होंने भी कहीं इन्द्रिय का लक्षण नहीं दिया है, तथा मन इन्द्रिय है या नहीं इस सम्बन्ध में भी वे सर्वदा मौन रहें हैं। वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार आचार्य प्रशस्तपाद ने भी कुछ स्पष्टीकरण देना उचित नहीं समझा। किन्तु सांख्य की परम्परा में मन को स्पष्टतः इन्द्रिय स्वीकार कर लिया गया है।^२ सम्भवतः इसी प्रभाव में आकर उत्तरकाल में न्याय में भी मन को इन्द्रिय मान लिया गया।^३ इस मान्यता में प्रत्यक्ष के परम्परागत लक्षण से भी सहायता मिलती है। जैसा प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति से भी प्रकट होता है इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है,^४ चूँकि सुखादि के प्रत्यक्ष में केवल मन ही एक मात्र साधन है अन्य इन्द्रियाँ नहीं, अतः अगत्या सुखादि साक्षात्कार को प्रत्यक्ष मानने के लिये मन को इन्द्रिय मानना आवश्यक हो गया, इसीलिए परवर्ती नैयायिकों को स्पष्टरूप से मन को इन्द्रिय स्वीकार करना ही पड़ा।^५ 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इस सिद्धान्तानुसार इसे (मन का इन्द्रियत्व) गौतम और कणाद आदि का अभिमत भी स्वीकार कर सकते हैं।^६

वेदान्त के अनुयायी 'इन्द्रियेभ्यः पराः ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः, मनसस्तु परा बुद्धिः'^७ इत्यादि श्रुति विरोध के कारण मन को इन्द्रिय नहीं मानते हैं, क्योंकि इस श्रुति में मन और इन्द्रियों में स्पष्ट रूप से भेद स्वीकार किया गया है।^८ गौतम भी मन की

१. स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति। वही, (वात्स्यायन भाष्य), १/१/१२

२. उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्चसाधर्म्यात्।—सां०का०, २७

३. भारतीय न्यायशास्त्र' एक अध्ययन, पृ०-७४

४. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।—न्या०द०, १/१/४

५. त०सं०, पृ-५२

६. वही, पृ०-५६

७. कठो०, १/३/३-४; १/३/७-१०; २/३/७

८. वे०सू०भा०, २/३३/१५

गणना इन्द्रियों में नहीं करते किन्तु प्रमेय में करते हैं।^१ मन के इन्द्रिय न मानने पर सुखादि के साक्षात्कार को प्रत्यक्ष मानने में बाधा हो सकती है, इसलिए वे नैयायिक स्वीकृत प्रत्यक्ष लक्षण को ही अस्वीकार कर देते हैं। वैसे तो नव्य-नैयायिक भी योगीप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की परिभाषा के अन्तर्गत करने के लिये प्रत्यक्ष की पूर्व परिभाषा को छोड़कर अन्य परिभाषा करते हैं कि जिस ज्ञान में किसी ज्ञानान्तर की सहायता आवश्यक न हो वह प्रत्यक्ष है, किन्तु वे मन को अवश्य इन्द्रिय मानते हैं।^२

नैयायिकों और वेदान्तियों में यह मौलिक अन्तर होते हुए भी दोनों ही उसे बाह्य इन्द्रियों से भिन्न मानते हैं, फिर चाहे इन्द्रिय कहें या अन्तःकरण या कुछ अन्य। यदि मन इन्द्रिय है, तो वह अन्तरिन्द्रिय है तथा बाह्य इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है। यदि वह इन्द्रिय नहीं है, तो भी वह इन्द्रियों की अनेक विशेषताओं से युक्त अवश्य है।

मन आत्मा से भिन्न है

नैयायिकों ने पूर्वपक्षियों के मत (मन ही आत्मा है) का खण्डन करते हुए सिद्ध किया है कि मन आत्मा से भिन्न है।

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्।^३

उपर्युक्त सूत्र में आत्मा को सिद्ध करने के लिए जो तथ्य दिये गये हैं, वे तो 'मन' में घटित होते हैं, अस्तु मन के अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं है अर्थात् मन ही आत्मा है। पृथक् से आत्मा का अस्तित्व नहीं है। आत्मा को सिद्ध करने वाले लक्षण, जैसे—देखने, स्पर्श करने, चखने, सूँघने आदि से होने वाला ज्ञान

१. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।—न्या०द०, १/१/६

२. 'भारतीय न्यायदर्शन' एक अध्ययन, पृ० ७४

३. न्या०द० ३/१/१६

आत्मा को होना बताया गया है। ये सभी बातें मन पर घटित होती हैं, क्योंकि समस्त विषयों का अनुभव करने वाला मन है। आत्मा के लक्षण में उसे सर्वविषय-ग्राही व एक होना बताया गया है, मन भी सभी विषयों का ग्रहण करने वाला व एक है। मन देहादि संघात में परिगणित है, अतः देहादि संघात को आत्मा मानने का तर्क जो पीछे दिया गया है, उसके अनुसार भी मन ही आत्मा सिद्ध होता है। अलग से आत्मा के अस्तित्व को मानने की आवश्यकता नहीं है सूत्रकार ने इस आक्षेप का निराकरण किया है—ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्।^१ ज्ञाता अर्थात् आत्मा सभी अर्थों को जानता है, किन्तु ज्ञान साधनों के अभाव में उसे बाह्याभ्यन्तर अर्थों का ज्ञान नहीं हो पाता। बाह्य अर्थों का ज्ञान चक्षु आदि बाहरी इन्द्रियाँ कराती है। नेत्र से व्यक्ति रूप का दर्शन करता है, नासिका से सूँघता है, त्वचा से स्पर्श करता है, रसना से स्वाद लेता है, कानों से सुनता है। इन सभी इन्द्रियों से वह ज्ञाता आत्मा बाह्य अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। इसी प्रकार आन्तरिक अर्थ—मनन, चिन्तन, संकल्प, स्मरण आदि का ग्रहण करने हेतु आत्मा के लिये आन्तर साधन 'मन' है। यदि उसे ही आत्मा की संज्ञा दे दी गई, तो फिर उसके लिए भी किसी आन्तर करण की आवश्यकता पड़ेगी और तब उसका कोई अन्य नाम रखना पड़ेगा। इस प्रकार मन अथवा किसी और साधन में केवल नाम का ही अन्तर होगा, क्योंकि आत्मा के लिये कोई आन्तर-सहायक आवश्यक है। मन सभी विषयों को ग्रहण करता है। वही समस्त इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान आत्मा तक पहुँचाता है। यद्यपि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं, किन्तु इन्द्रियों और आत्मा के बीच में मन स्थिर रहता है, इसी कारण एक समय में एक ही इन्द्रिय द्वारा एकत्र ज्ञान आत्मा तक पहुँच पाता है, जिसमें मन सहयोग नहीं देता, वह ज्ञान एकत्र

१. ज्ञातुर्ज्ञान साधनोपपत्तेः संज्ञाभेद मात्रम्।—वही, ३/१/१७

करके भी वह इन्द्रिय आत्मा तक नहीं पहुँचा पाती। जैसे किसी वस्तु को देखते हुए भी यदि उसमें मन नहीं लगा है, तो वह अनदेखी सी लगती है। अतः स्पष्ट है कि मन आत्मा से भिन्न है और आत्मा का अलग अस्तित्व सिद्ध है।^१ यदि कोई यह कहे कि रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण करने के साधन के रूप में चक्षु, रसना आदि का अस्तित्व तो है, किन्तु सुख-दुःख अनुभव करने वाले एवं मनन, चिन्तन, संकल्प आदि करने के लिए मन का अस्तित्व आवश्यक नहीं है (अर्थात् बाह्य करण आवश्यक है और अन्तःकरण आवश्यक नहीं) तो वह नियम अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं होता (नियमश्च निरनुमानः)।^२ जब शब्द, रस आदि के लिए श्रोत्र, रसना आदि का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो सुख-दुःखादि अनुभव तथा मनन-चिन्तन के लिए किसी न किसी करण (साधन) के अस्तित्व का अनुमान न होना युक्तिरहित है। यदि ये कहा जाए कि किसी अन्य इन्द्रिय के द्वारा वह कार्य हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का कार्य नहीं कर सकती। नेत्र से रस का ग्रहण नहीं हो सकता। जब प्रत्येक इन्द्रिय का अपना कार्य निर्धारित है, तब मननादि के लिए अन्तःकरण (आन्तरिक साधन) 'मन' निर्धारित मानना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि मन को आत्मा कहना उचित नहीं। उसका पृथक् अस्तित्व है, जिसके द्वारा सभी विषयों का ज्ञान आत्मा तक पहुँचता है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषय 'मन' के माध्यम से ही आत्मा तक पहुँचते हैं।^३

मन की एकता एवं गति

क्या शरीर में 'आत्मा' के समान 'मन' भी एक है? या 'इन्द्रियों' के समान अनेक है? इस प्रश्न का उत्तर कणाद ने इस प्रकार दिया है—'प्रयत्नायौगपद्यात्

१. न्या०सू०, ३/१/१६

२. वही, ३/१/१७

३. न्या०द०, पृ०-१०८, १०९

ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ।^१ अर्थात् एक समय में एक ही प्रकार का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। इसी प्रकार एक ही समय में दो तरह के प्रयत्न नहीं किये जा सकते। यदि शरीर में अनेक मन रहते तो एक साथ ही अनेक ज्ञान उत्पन्न होते और भिन्न भिन्न प्रयत्न एक ही साथ हो सकते। किन्तु ऐसा नहीं होता। एक समय में दो बातें नहीं सोची जा सकती। एक ही साथ दो काम नहीं किये जा सकते। इससे ज्ञात होता है कि एक शरीर में एक ही मन रहता है।

मन एक अणुविशेष के रूप में शरीर में विद्यमान रहता है। जैसा भाषापरिच्छेदकार विश्वनाथ पञ्चानन कहते हैं—अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते। इस सिद्धान्त को मनोऽणुत्वाद कहते हैं।^२ गौतम ने न्यायसूत्र में कहा है—“अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिः आशुसञ्चारात् ।”^३ अर्थात् मन अत्यन्त आशुकारी है। उसकी गति पारे के कण की तरह चञ्चल, विद्युत् के समान तीव्र है। बाह्येन्द्रियाँ जो विषय—ज्ञान प्राप्त करती हैं, उसे मन शीघ्र ग्रहण कर आत्मा के पास पहुँचा देता है। मन का कार्य निरन्तर विद्युत्वेग से चलता रहता है, क्षणमात्र भी उसकी गति—परम्परा नहीं रुकती। किन्तु मन है तो एक ही। एक ही समय में दो जगह कैसे रह सकता है? इसलिये हम एक ही समय में दो अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते। एक के बाद ही दूसरा अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ एक शंका उठती है। क्या एक ही समय में अनेक बातों का ज्ञान हमें नहीं होता? मान लीजिये, हम बगीचे में टहल रहे हैं, अपने सामने रंग—बिरंगे मनोहर पुष्पों

१. वै०द०, ३/२/३

२. भारतीय दर्शन परिचय (न्यायदर्शन), पृ०—१३४

३. न्या०सू०, १/१/१३

को देख रहे हैं। उनकी मधुर-मधुर सुगन्ध हमें लग रही है। समीप से ही संगीत की ध्वनि आ रही है। यहाँ रूप, गन्ध और शब्द इन तीनों का ज्ञान हमें एक साथ हो गया है। किन्तु यथार्थतः बात कुछ और ही है। रूप, गन्ध और शब्द इन तीनों को हम एक साथ ग्रहण नहीं कर सकते। जब हमारा ध्यान रूप पर रहता है तब गन्ध पर नहीं जब गन्ध पर आता है तब शब्द पर नहीं। किन्तु हमारा ध्यान एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर इतना शीघ्र दौड़ जाता है कि हमें उनके बीच में समय का कुछ भी अन्तर नहीं ज्ञात होता। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही समय में ये सब कार्य हो रहे हैं। ज्ञानों के एक काल में न होने से मन एक ही है—“ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः।”^१ अर्थात् एक समय में अनेक ज्ञानों की उपलब्धि नहीं पायी जाती। इससे सिद्ध होता है कि मन एक ही है। यदि अनेक होते तो एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते। परन्तु ऐसा न होने से मन का एक होना स्पष्ट सिद्ध होता है।^२

मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः^३

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न ये मनस् इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। अर्थात् ये सब मनस् इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष का विषय हैं। आत्मा के विशेष गुण दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, और प्रयत्न तथा उन गुणों में रहने वाली सुखत्व जातियाँ और उन गुणों का अधिकरण आत्मा, मनस् इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। न्याय के मत में बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष पाँच बाह्य इन्द्रियों से होता है, किन्तु ज्ञान आत्मा आदि का मनस् इन्द्रिय द्वारा मानस प्रत्यक्ष होता है।^४

१. न्या०द०, ३/२/६०

२. वही, पृ० १६४

३. न्या०का० (भाषापरिच्छेद), १/५७

४. न्या०सि०मु०, पृ० २६-३००

मन द्रव्य तथा नित्य है

मन को वैशेषिक नित्य मानते हैं। मन नित्य इसलिये है क्योंकि अवयवहीन है। विनाश और निर्माण का अर्थ क्रमशः विभिन्न अवयवों का पृथक्करण और संयोजन है। मन अवयवशून्य होने से इसका विनाश और सृष्टि सम्भव नहीं है। 'मन' आकाश, काल, दिक् आदि से भिन्न है। इस भिन्नता का कारण यह है कि मन सक्रिय है, जबकि आकाश, काल, दिक् आदि निष्क्रिय हैं।^१

जिस प्रकार अवयवी वायु द्रव्य से अनुमान किया हुआ वायु-परमाणु गुणवान् तथा क्रियावान् होने से द्रव्य तथा नित्य है उसी प्रकार मन भी गुणवान् होने से द्रव्य तथा नित्य है—'तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते'।^२ वैशेषिकसूत्रोपस्कार के व्याख्याकार आचार्य दुण्ढिराज शास्त्री के अनुसार जिस प्रकार अवयवी वायु द्रव्य से अनुमान किया हुआ वायु परमाणु गुणाधार तथा क्रिया का भी आश्रय होने से द्रव्य है, उसी प्रकार एक काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होने से अनुमान सिद्ध मन भी गुणाश्रय होने से द्रव्यत्व जाति का आश्रय द्रव्य पदार्थ है, उसमें बिना इन्द्रियों के संयोग के ज्ञान की जनकता नहीं हो सकती जिससे उसमें गुणधारता न हो। तथा 'सुखादिकों का प्रत्यक्ष, इन्द्रियकरण वाला है, प्रत्यक्ष होने से, रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष के समान, इस अनुमान से इन्द्रियत्व भी मन में सिद्ध होता है, ज्ञान के कारण मन के संयोग के आधार को इन्द्रिय कहते हैं इस कारण उसमें बिना प्रयास के ही द्रव्यत्व सिद्ध होता है और वायु-परमाणुओं के समान कारण द्रव्य में आश्रित न होने के कारण मन नित्य है यह सिद्ध होता है।^३

१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २०८

२. वै०सू०, ३/३/२

३. वै०सू०उ०, पृ०-२३५

चतुर्थ अध्याय

**पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा (वैदान्त) में
मन की अवधारणा**

चतुर्थ अध्याय पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में मन की अवधारणा

मन्वानो मन

अव्याकृत, अव्यक्त, अकृत्स्न, परतत्त्व (आत्मा) ही मनन करने के कारण मन कहलाता है।^१ परमतत्त्व के ये कर्मानुसारी नाम हैं। योगवाशिष्ठ के अनुसार शुद्धचेतना आत्मा अर्थात् परमचित् जब स्पन्दनयुक्त हो कर कल्पनात्मक रूप धारण करता है और विभिन्न विषयों की ओर आकर्षित होता है तब उसे 'मन' कहते हैं।^२

मन का अस्तित्व

मन, प्राण तथा वाक् ये तीन अन्न हैं, इन तीनों को प्रजापति ने प्रथम उत्पन्न कर अपने लिये नियत किया।^३ मानव की बाह्येन्द्रियाँ तो दृष्टिगोचर होती हैं। मन शरीर के भीतर रहने वाली इन्द्रिय है इसलिए इसे अन्तरिन्द्रिय कहा जाता है। परन्तु कैसे पता चलता है कि मन का अस्तित्व है या नहीं? मन पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों से भिन्न है, बाह्येन्द्रियों जैसे नेत्रेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रियों के द्वारा देखे, सुने, अनुभव किये गये तथा भोगे गये विषयों का ज्ञान और मनुष्य की चेतना के मध्य मन सम्बन्ध स्थापित करता है। इसलिये कहा गया है कि मनुष्य मन से सुनता है, मन से ही देखता है। इसी से मन के अस्तित्व का बोध होता है।^४ मन की सन्निधि में ही इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों को भोगने और ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ मन

१. अकृत्स्नो हि स.....मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव, -बृ०उ०, १/४/७

२. गतमेव कलकत्वं कदाचित्कल्पानात्मकम्। उन्मेषरूपिणी नाना तदेव हि मनः स्थिताः।
-योगवाशिष्ठ, ३/६६/१७

३. त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत-बृ०उ०, १/५/३

४. मनसा ह्येव पश्यति मनसा ह्येव शृणोति।-वही, १/५/३

के अधीन रहकर कार्य करती हैं। यदि मन उपस्थित न हो तो नेत्रों के द्वारा किसी विषय को देखने पर भी उस विषय का ज्ञान नहीं होता। 'मेरा मन दूसरी जगह पर था इसलिये मैंने नहीं देखा। मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने नहीं सुना।'^१ ऐसा मनुष्य प्रतिदिन अनुभव करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन की उपस्थिति के बिना इन्द्रियाँ निष्प्रयोजन हैं। जिसके उपस्थित रहने पर ही ज्ञान होता है वह मन नाम का अन्तःकरण है।

परन्तु यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कभी-कभी आँखों के सामने न आने पर भी किसी व्यक्ति के द्वारा स्पर्श किये जाने पर भी मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि यह स्पर्श किसका है? यह कैसे सम्भव है? मनुष्य अपने विवेक द्वारा ही जान लेता है कि यह स्पर्श हाथ का है या पाँव का। फिर प्रश्न उठता है कि स्पर्श का ज्ञान तो त्वचा से होता है मन से नहीं। यह कहना ठीक नहीं क्योंकि त्वचा तो केवल स्पर्श का अनुभव करती है। यह स्पर्श हाथ का है या पाँव का इसका विवेक त्वचा नहीं मन करता है। अतः इस विवेक ज्ञान का कारण मन ही है।^२ अतः इससे सिद्ध हो जाता है कि मन का अस्तित्व है।

मन का स्वरूप

मन के अनेक भाव हैं काम-स्त्री सम्बन्ध की अभिलाषा, संकल्प-सम्मुखस्थ विषय की शुक्ल नीलादि भेद से विशेष कल्पना, विचिकित्सा-संशय-ज्ञान, श्रद्धा-जिसका फल अदृष्ट है उन कर्मों और देवताओं में आस्तिकता का भाव रखना, अश्रद्धा, इसके विपरीत भाव रखना, ह्री-लज्जा, धी बुद्धि और भी-भय, ये सब भाव मन ही हैं।^३ अन्तः

१. नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा ह्येव शृणोति।—बृ०उ०, १/५/३

२. तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः।—वही

३. कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येतन्सर्वं मन एव।—वही

करण की संकल्पविकल्पात्मकवृत्ति को ही मन कहते हैं।^१ चित्त और अहंकार का मन और बुद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है। संशय रूप वृत्ति मन है, निश्चयात्मिका बुद्धि है।^२ अन्तःकरण की अनुसंधानात्मिका वृत्ति को चित्त और अभिमानात्मिका वृत्ति को अहंकार कहा जाता है।^३ मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ही अन्तःकरण है। इसके विषय संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण हैं।^४ संकल्प—विकल्प के कारण मन, पदार्थ का निश्चय करने के कारण बुद्धि, अहं—अहं अर्थात् मैं—मैं ऐसा अभिमान करने के कारण अहंकार और इष्ट—चिन्तन के कारण यह चित्त कहलाता है।^५

योऽणिष्ठस्तन्मनः

जो अणिष्ठतम है वही मन है। मनुष्य जो भी खाता है, वह जठराग्नि के द्वारा पचाये जाने पर तीन भागों में विभक्त होता है। खाये हुए का स्थूलतम भाग पुरीष (मल) और मध्यम अंश मध्यम धातु बनता है, अन्न रसादि क्रम से परिणत होकर माँस हो जाता है। मन की प्रकृति उसकी पाचन क्रिया पर निर्भर है। अन्न का अणिष्ठ अर्थात् सूक्ष्मतम अंश मन बन जाता है।^६

अन्नमयं हि सोम्य मनः

मन अन्नमय है। जब हम दही को मथते हैं तो उसका जो सूक्ष्म भाग होता है वह नवनीत के रूप में ऊपर आ जाता है, वही दही का सार होता है। उसी से घृत

१. मनोनाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोन्तर्भावः।—वे०सा०, १६

२. तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तदिद्वधा।

मनो विमर्श रूपं स्यादबुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका।—पं०द०, १/२०

३. अभिमानात्मिकान्तःकरण वृत्तिरहङ्कार।—शा०उ०, २

४. मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमन्तरम्।

संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।।—शा०उ०, १२

५. निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः।

मनस्तु सङ्कल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः।।—वि०चू०, ६५।

६. अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति

यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।—छा०उ०, ६/५/१

बनता है।^१ उसी प्रकार खाये हुए अन्न का जो सूक्ष्मतम भाग है वह मथानी के समान वायुरहित जठराग्नि द्वारा मथे जाने पर साररूप में ऊपर आ जाता है वही मन होता है।^२ अन्न का सार मन है। खाये हुये अन्न से जो ऊर्जा उत्पन्न होती है उसी से मन में शक्ति का संचार होता है। छान्दोग्योपनिषद् में मन की अन्नमयता को उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु से सम्बन्धित कथा के द्वारा सिद्ध किया गया है। आरुणि ने पुत्र श्वेतकेतु से पन्द्रह दिन तक उपवास करके ऋक् आदि मंत्रों का पाठ करने के लिये कहा। श्वेतकेतु ने पाठ आरम्भ किया। परन्तु उसे पाठ याद नहीं हो रहा था। वह जो भी पढ़ता था उसे वह समझ नहीं पा रहा था। वह पिता के समीप आया, तब पिता ने उसे समझाया—“जिस प्रकार बहुत से ईंधन से प्रज्वलित हुए अग्नि का एक जुगनू के समान अङ्गारा रह जाए तो उसमें जलाने का सामर्थ्य नहीं रहता तुमने भी पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया, इस लिये तुम्हारी पन्द्रह कलायें नष्ट हो गई। केवल सोलहवीं कला जो ‘ध्रुवा—कला’ कहलाती है वह शेष रह गई है। इसलिये तुममें जानने की क्षमता नहीं रही। जिस प्रकार एक जुगनू के समान चमकते हुए उस अङ्गारे को यदि पुनः ईंधन से प्रज्वलित कर दिया जाये तो उसमें फिर से जलने की शक्ति आ जाती है। वैसे ही अङ्गारे के समान शेष अपनी ध्रुवा—कला को अन्न के द्वारा पुनः पुष्ट करो।” श्वेतकेतु ने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए पुनः अन्न ग्रहण किया। अन्न ग्रहण कर वह नवशक्ति से सम्पन्न हो गया। तब वह पिता द्वारा पूछे सभी प्रश्नों का उत्तर देने से समर्थ रहा। अतः मन को अन्न द्वारा पुष्ट करने पर ही वेदार्थ का ज्ञान सम्भव हुआ। तब श्वेतकेतु ने अनुभव से जाना कि मन अन्नमय है।^३

१. दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्मवति। — छा०उ०, ६/६/१

२. एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्रयमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति। — वही, ६/६/२

३. अन्नमयं ही सोम्य मनः।— छा०उ०, ६/५/४; षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः—वही, ६/७/१; एवं सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयं हि सोम्य मनः। — वही, ६/७/६

मन का अधिष्ठान हृदय है

जब देवताओं ने अपने-अपने आयतनों में प्रवेश किया तब चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ।^१ ऐतरेयोपनिषद् में मन और हृदय को एक दूसरे का पर्यायवाची माना गया है—‘यदेतद् हृदयं मनश्चैतत्’।^२

मन (आत्मा का) दिव्य नेत्र है

छान्दोग्योपनिषद् में मन को दैव चक्षु कहा गया है। आत्मा मन रूपी दिव्यचक्षु के द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है—‘मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन्मते’।^३ बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि आत्मा मन से ही देखता है, मन से सुनता है एवं हृदय से रूपों का ज्ञान प्राप्त करता है।^४ मन को दिव्य कहा गया है, क्योंकि मन अन्य इन्द्रियों से असाधारण है। कठोपनिषद् में मन को इन्द्रियों से उत्कृष्ट कहा गया है।^५ इन्द्रियों का अपने-अपने भोग-विषयों की ओर उन्मुख होना भी मन के अधीन है। मन इन्द्रियों से अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म है। छान्दोग्योपनिषद् में मन को वाणी से श्रेष्ठ माना गया है।^६ मन ही उसे बोलने के लिये प्रेरित करता है। वाक् मन के अन्तर्गत है और जो जिसके अन्तर्गत होता है, उसकी अपेक्षा वह व्यापक होने के कारण बड़ा होता है।^७ अतः मन वाणी से उत्कृष्ट भी है और व्यापक भी। इसी तरह अन्य इन्द्रियाँ भी मन के द्वारा परिचालित

१. चन्द्रमा मनो भूत्वाहृदयं प्रविशत्।—ऐ०उ०, १/२/४

२. वही, ३/१/२

३. छा०उ०, ८/१२/५

४. मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति हृदयेन हि रूपाणि जानाति।— बृ०उ०, १/५/३

५. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।— कठो, १/३/१०

६. मनो वाव वाचो भूयो।— छा०उ०, ७/३/१

७. तेन वाङ्मनस्यन्तर्भवति। यच्च यस्मिन्मन्तर्भवति तत्तस्य व्यापकत्वात्ततो भूयो भवति।—छा०उ०, (शाङ्करभाष्य), ७/३/१

होती हैं। एतदतिरिक्त इन्द्रियाँ केवल वर्तमान विषयों को ही भोगने में समर्थ हैं। इसलिये उन्हें अदैव कहा गया है। परन्तु मन तीनों कालों में विषयों की उपलब्धि में कारण है। इसलिये मन को "दैव" कहा गया है।

मन त्रिकालदर्शी है

ऋग्वेद में मन को भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों का द्रष्टा कहा गया है।^१ शरीर में ससीम रहते हुये भी मन देश एवं काल की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है। मनः रूपी पंछी विचार रूपी पंखों पर सवार हो कर, धरती से आकाश एवं पाताल पर्यन्त गमन करता है।

मन की विविध शक्तियाँ

भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मन के माध्यम से हुआ करती हैं, मन में विभिन्न रूप से चेतना की झंकार होती है। हृदय रूपी मन में सम्यग् रूप से जानने की शक्ति 'संज्ञानम्',^२ दूसरों को आज्ञा देने की शक्ति अर्थात् ईश्वरभाव (प्रभुता) 'आज्ञानम्',^३ कलादि का विशेष ज्ञान 'विज्ञान',^४ प्रज्ञप्ति अर्थात् प्रज्ञता (समयोचित बुद्धि स्फुरित हो जाना) 'प्रज्ञान',^५ ग्रन्थों के अर्थ को धारण करने की शक्ति 'मेधा',^६ चक्षु द्वारा रूप को उपलब्ध कराने की शक्ति 'दृष्टि',^७ विपत्ति में धैर्य धारण करने की शक्ति 'धृति',^८ मनन करने की शक्ति 'मति',^९ मनन करने की स्वतन्त्रता 'मनीषा',^{१०} चित्त का

१. यत् ते भूतं च भव्यं च, मनो जगाम दूरकम् ।—ऋ०, १०/५/८/१२

२. संज्ञानं संज्ञप्तिश्चेतनभावः—ऐ०उ०, (शाङ्करभाष्य), ३/१/२

३. आज्ञानमाज्ञप्तिरीश्वरभावः—वही

४. विज्ञानं कलादिपरिज्ञानम्—वही

५. प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः प्रज्ञता—वही

६. मेधा ग्रन्थधारणसामर्थ्यम्—वही

७. दृष्टिरिन्द्रियद्वारा सर्वविषयोपलब्धि — वही

८. धृतिर्धारणम्— वही

९. मतिर्मननम्— ऐ०उ०, (शाङ्करभाष्य) ३/१/२

१०. मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम्— वही

रोगादि से दुःखी होना 'जूति',^१ अनुभूत वस्तु का स्मरण 'स्मृति',^२ शुक्ल-कृष्णादि भाव से रूपादि का संकल्प करना 'सङ्कल्प',^३ अध्यवसाय 'क्रतु',^४ जीवन की निमित्तभूत श्वासोच्छ्वासादि क्रिया 'असु',^५ अप्राप्त विषय की आकाङ्क्षा अर्थात् तृष्णा 'काम',^६ स्त्रीसंसर्गादि की अभिलाषा 'वश',^७ ये सभी प्रज्ञानसंज्ञक मन के कर्मानुसारी नाम हैं।^८

मनसो मनः

समस्त इन्द्रियों से मन अधिक वेगवान् है। परन्तु मन से जवीय तथा श्रेष्ठ आत्मा है।^९ इस आत्मा के अस्तित्व के कारण मन मनन करता है। जो मन के भीतर है, जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर मन का नियमन करता है वह अन्तर्यामी अमृत आत्मा है।^{१०} मन स्वयं क्रियाशील नहीं होता है, अपितु उस चेतनतत्त्व द्वारा प्रेरित होकर कार्य करता है।^{११} आत्मतत्त्व से प्रेरित होकर मन अपने विषयों की ओर उन्मुख होता है। मन को मनन करने और बुद्धि को निश्चय करने की शक्ति देने वाला आत्मा ही है।^{१२} जिसका मन के द्वारा मनन नहीं किया जाता अपितु जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है वह आत्मा ही ब्रह्म है।^{१३} अतः वही (आत्मा) मन का मन है।^{१४}

१. जूतिश्चेतसो रुजादिदुःखित्वभावः—ऐ०उ०, ३/१/३
२. स्मृतिः स्मरणम्—वही
३. संकल्पः शुक्लकृष्णादिभावेन संकल्पनं रूपादीनाम्—वही
४. क्रतुरध्यवसायः—वही
५. असुः प्राणनादिजीवनक्रियानिमित्ता वृत्तिः—वही
६. कामोऽसंनिहितविषयाकाङ्क्षा तृष्णा—वही
७. वशः स्त्रीव्यतिकराद्यभिलाषः—वही
८. वही; बृ०उ०, १/४/७
९. अनेजदेकं मनसो जवीयो—इशो०, ४
१०. यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।
—बृ०उ०, ३/७/२०
११. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः—केनो०, १/१
१२. मनसो ये मनो विदुः।—बृ०उ०, ४/४/१८
१३. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।—केनो०, १/५
१४. मनसो मनः—केनो०, १/२

मन का रेतस् 'काम'

सृष्टि का आरम्भ 'काम' से हुआ यही काम मन की विभूति है।^१ मूलतत्त्व में सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव हुआ।^२ बृहदारण्यकोपनिषद् में मन को ग्रह कहा गया है जो कामरूप अतिग्रह से गृहीत है।^३ अथर्ववेद में काम को मन का रेतस्—सार माना गया है।^४ काम ही पुरुष (आत्मा) का आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है।^५ सृष्टि के आरम्भ में आत्मा ने कामना की "मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् मैं उत्पन्न हो जाऊँ।"^६ उसने मन से वाणी की द्वन्द्व भाव से भावना की।^७ इसका तात्पर्य यह है कि उसने वाणी अर्थात् वेदत्रयी में वर्णित सृष्टि—क्रम का मन से विचार किया। मनुष्य जो भी कामना करता है वह संकल्प से ही सिद्ध होती है।^८ अन्यथा वह कोरी कामना—इच्छा ही रह जाती है। अहं भाव अर्थात् मन ही सृष्टि का आदि बीज है।^९ मन ही सृष्टि का स्रष्टा है।^{१०} पुरुष काममय ही है। काम से प्रेरित हुआ मनुष्य पुण्य—पाप का संचालन करता है। मन में काम ऐसे संसक्त रहता है जैसे पुष्प में गन्ध।

मनस्थ काम संसरण का मूल कारण है। जो जैसी कामना करता है वह उन कामनाओं के वशीभूत होकर उन—उन स्थानों में जन्म लेता है।^{११} जैसी कामना होती है वैसा ही 'क्रतु' संकल्प होता है। जैसा संकल्प होता है वैसा ही कर्म होता है और

-
१. कामो जज्ञे प्रथमो—अथर्व०, ६/२/१६
 २. तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति।—बृ०उ०, १/२/१
 ३. मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीता मनसा हि कामान् कामयते।—बृ०उ०, ३/२/७
 ४. कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।—अथर्व०, १६/५/२/१
 ५. काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिः—बृ०उ०, ३/६/११
 ६. सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।—तै०उ०, २/६/१;
सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति—बृ०उ०, १/२/४
 ७. स मनसा वाचं मिथुनं समभवत।—वही, १/२/४
 ८. यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति।—छां०उ०, ८/१/१०
 ९. योग वाशिष्ठ, ६/१२/१८
 १०. मनो हि जगतां कर्त्ता—वही, ३/५/१
 ११. कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामाभिर्जायते तत्र तत्र।—मुं०उ०, ३/२/२

तदनुरूप फल मिलता है।^१ मन ही लिङ्ग है। इसका भाव यह है कि लिङ्गदेह मन प्रधान है। काम के अनुरूप जीव की शुभाशुभगति होती है। कामना करने वाला जीव संसरण करता है। जीव का मन जिसमें आसक्त होता है अर्थात् जिस काम में आसक्त होकर वह कर्म करता है उसका फल उसे वैसा ही मिलता है। काम को ही उपनिषदों में सर्वप्रथम संसरण का कारण माना गया। मृत्यु के समय जिसमें मनुष्य का लिङ्गशरीर और मन निषक्त हो जाता है, जिस कामना से इसका शरीर और मन बन्ध जाता है, फिर मानों बंधा हुआ सा कर्मों सहित यह उधर ही खिंचा चला जाता है। लिङ्गदेह ही सृष्टि से प्रलयपर्यन्त, मृत्यु से पुनर्जन्मपर्यन्त संसरण करती है। काम मन में संसक्त रहता है। इसलिये पुरुष को काममय कहा गया है। क्योंकि काममय पुरुष एक कामना को पूर्ण करके ही दूसरी कामना की ओर फिरता रहता है। परन्तु आप्तकाम अथवा निष्काम व्यक्ति आत्मकाम होता है। वह मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है।^२

परन्तु यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मनस्थ काम संसरण का मूल कारण है तो यह शरीर में कैसे प्रविष्ट होता है?^३ पिप्पलाद ऋषि इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताते हैं कि मन के संकल्प से वह शरीर में प्रवेश करता है।^४ मृत्यु के समय मनुष्य के मन में जैसी कामना होती है, उसके कर्मानुसार जैसा संकल्प होता है वैसा ही शरीर पुनः मिलता है। क्योंकि मरणासन्न पुरुष की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं। जीवात्मा मन में समाहित हुई इन्द्रियों को साथ लेकर उदान वायु के साथ

-
१. काममय एवायं पुरुष इति स यथाकमो भवति तत्क्रतुर्भवति
यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभि संपद्यते। — बृ०उ०, ४/४/५
 २. तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्
पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो
योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा
उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।—बृ०उ०, ४/४/६
 ३. कथमायात्यस्मिञ्शरीर।—प्रश्नो०, ३/१
 ४. मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे।—वही, ३/३

दूसरे शरीर में चला जाता है।^१ अतः अन्तिम काम अर्थात् संकल्प के अनुसार जीवात्मा भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनि में संसरण करता है।^२

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित सामोपासना में मन को हिंकार^३ और निधन^४ दोनों माना गया है। सामोपासना का आरम्भ हिंकार से और समाप्ति निधन से होती है। परन्तु यह कैसे सम्भव है कि मन हिंकार (आरम्भ) भी हो और निधन (समाप्ति) भी हो? मन को हिंकार सम्भवतः इसलिये कहा गया होगा कि मन में स्थित काम ही जन्म और पुनर्जन्म का कारण है। स्रष्टा के मन में स्थित काम ही सृष्टि का मूल था। यही काम सृष्टि को प्रवर्तित करता है। मन में इस काम के समाप्त होने पर मनुष्य निष्काम, आप्तकाम, अकाम और आत्मकाम हो जाता है। वह मुक्त हो जाता है। इसलिये मन को सामोपासना में हिंकार और निधन कहा गया है।

संकल्पो वाव मनसो भूयात्

संकल्प ही मन से उत्कृष्ट है।^५ संकल्प शक्ति मन का सार है। समस्त संकल्पों का मन एक अयन है।^६ मन का सम्पूर्ण कार्यकलाप संकल्प शक्ति पर आधारित है। शंकर के मतानुसार संकल्प भी अन्तःकरण की वृत्ति है। कर्तव्य और अकर्तव्य विषयों का विभागपूर्वक समर्थन ही संकल्प है।^७ जिस समय पुरुष संकल्प करता है कि मुझे यह कहना चाहिए तभी वह 'मनस्यन' (बोलने की इच्छा) करता है, फिर वाणी को प्रेरित

१. तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः। —प्रश्नो ३/६

२. यथासंकल्पितं लोकं नयति।— वही, ३/१०

३. मनो हिंकार।—छां०उ०, २/११/१

४. मनो निधनम्।— वही, २/७/१

५. छां०उ०, ७/४/१

६. सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेव।— बृ०उ०, २/४/११

७. संकल्पोऽपि मनस्यनवदन्तः करणवृत्तिः, कर्तव्याकर्तव्यविषयविभागेन समर्थनम्।—छां०उ० (शाङ्करभाष्यार्थ), ७/४/१

करता है। मन जैसा सोचता है, वाणी वैसा ही अभिव्यक्त करती है। वाणी का संचालन मन करता है। इसलिये वाणी से मन को श्रेष्ठ बताया गया।

चित्तं वाव संकल्पाद् भूयः

संकल्प से चित्त श्रेष्ठ है।^१ जिस समय पुरुष चेतनावान् होता है तभी संकल्प करता है, फिर मनन करता है, तत्पश्चात् वाणी को प्रेरित करता है। शाङ्करमतानुसार चित्त का अर्थ है चेतयितृत्वं अर्थात् प्राप्त काल के अनुरूप बोधयुक्त होना तथा भूत और भविष्यत् विषयों के प्रयोजन का निरूपण करने में समर्थ होना।^२ पतञ्जलि के मत में, चित्त शब्द में बुद्धि, अहंकार, और मन सब सम्मिलित है।^३ चित्त, बुद्धि, अहंकार ये मन की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं।^४

ध्यानं वाव चित्ताद् भूयः

चित्त की अपेक्षा ध्यान उत्कृष्ट है।^५ ध्यान को एकाग्रता भी कहते हैं। शङ्कर के मतानुसार देवतादि शास्त्र में वर्णित आलम्बन में विजातीय वृत्तियों से अविच्छिन्न एक ही वृत्ति के प्रवाह का नाम 'ध्यान' है। जिसे 'एकाग्रता' भी कहते हैं।^६

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः

ध्यान से विज्ञान श्रेष्ठ है।^७ विज्ञान शास्त्रार्थ विषयक ज्ञान को कहते हैं। विज्ञान

१. छां०उ०, ७/५/१

२. चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकालानुरूप-बोधतत्त्वमतीतानागतविषयप्रयोजननिरूपणसामर्थ्यं च तत् संकल्पादपि भूयः।-वही

३. यो०वा०, पृ० १२,

४. मनश्च मन्तव्यं, बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च।-प्रश्नो०, ४/८

५. छां०उ०, ७/६/१

६. ध्यानं नाम शास्त्रोक्तदेवताद्यालम्बनेष्वचलो भिन्नजातीयैरनन्तरितः

प्रत्ययसन्तानः, एकाग्रतेति यमाहुः।-वही (शाङ्करभाष्यार्थ), ७/६/१

७. वही, ७/७/१

से ही मनुष्य ऋग्वेद को 'यह ऋग्वेद है' इस प्रकार प्रमाण रूप से जानता है। विज्ञान विशिष्ट या विवेकपूर्ण ज्ञान से ही वह विभिन्न ज्ञातव्य विषयों को जानता है।

बलं वाव विज्ञानाद्भूयः

विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) से मनोबल श्रेष्ठ है।^१ मनोबल से व्यक्ति अजेय हो जाता है। वह कभी पराजित नहीं होता। मनोबल मृत्युञ्जय होने का साधन है इसलिये मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा बलहीन को प्राप्त नहीं होती।^२ अन्न से प्राप्त मन की विज्ञेय पदार्थ के प्रतिभान की शक्ति का नाम बल है।^३ सौ विज्ञानवान् प्राणियों को एक बल सम्पन्न प्राणी इस प्रकार कम्पायमन कर देता है, जैसे एकत्रित हुए सौ मनुष्यों को एक मत्त हाथी।^४ मनोबल से मनुष्य में कठिन से कठिन कार्य करने की क्षमता आ जाती है। यह मनोबल विभुरूप है। यह मनःशक्ति ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ बन्धु है। इसी से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। वह कठिन से कठिन कार्य को भी सरलता से कर लेता है। मनोबल के अभाव में मनुष्य कायर की भाँति आचरण करता है। मनोबल से आत्मविश्वास बढ़ता है जो जीवन में उन्नति के लिये परम आवश्यक है।^५ आत्मबल से मनुष्य के मन में मानव कल्याण और विश्वकल्याण की भावना उत्पन्न होती है। मनुष्य को मनोबल अन्न से प्राप्त होता है।

अन्नं वाव बलाद्भूयः

बल से अन्न बढ़ा है।^६ क्योंकि यदि कोई व्यक्ति दस रात तक कुछ न खाये

१. छां०उ०, ७/८/१

२. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो।—मुं०उ०, ३/४

३. बलमित्यन्नोपयोगजनितं मनसो विज्ञेये प्रतिभानसामर्थ्यम्।—छां०उ०, ७/८/१

४. वही

५. उद्धेस्तात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।—गीता, ६/५

६. छां०उ०, ७/६/१

उसके बाद भी वह जीवित रहे तो 'अद्रष्टा', 'अश्रोता', 'अमन्ता', 'अबोद्धा', 'अकर्ता', 'अविज्ञाता' हो जाता है। उसका मन कार्य करना छोड़ देता है। परन्तु जब उसे अन्न प्राप्त हो जाता है तब फिर वह देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने और समझने वाला बन जाता है।

मन स्वप्न द्रष्टा है

स्वप्न मन का वह अनुभव है जिसमें शरीर का बोध बिल्कुल नहीं रहता। मन देखे हुए पदार्थ को फिर देखता है, सुने हुए को फिर सुनता है। उन वस्तुओं का पुनः उपभोग करता है जिनका उन्हें अन्य स्थान तथा देशों में अनुभव किये हुये या न किये हुए, वास्तविक तथा कृतिम इन सबका आनन्द ग्रहण करता है।^१ मन सब कुछ देखता है। इसका तात्पर्य यह है कि मन केवल उन विचारों के द्वारा गतिशील नहीं होता जो इन्द्रियार्थ—सन्निकर्ष के फलस्वरूप प्रवाहित होते हैं। परन्तु वह स्वयं भी उनकी रचना कर लेता है और स्वतन्त्रता से कार्य करने लगता है। जाग्रतावस्था में जो गहन संस्कार मनुष्य की उपचेतना के क्षेत्र में चले जाते हैं उन्हीं का उद्रेक स्वप्न में होता है। अतः जाग्रतावस्था के अनुभूत अनुभवों द्वारा ही नहीं अपितु अनुभूत अवास्तविक अनुभवों द्वारा भी स्वप्न की संरचना होती है। जैसी अपनी नाभि में छिपी हुई कस्तूरी की गन्ध से बौराया मृग भरमाया रहता है और भटकता रहता है उसी प्रकार स्वप्न में मन रूपी मृग भ्रमण करता है।

स्वप्न मन की सृजना है

स्वप्नस्थान पुरुष का 'संध्यस्थान' माना गया है। 'संध्यस्थान' का तात्पर्य

१. अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनःपुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं चश्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति।—प्रश्नो०, ४/५

क्या है? इहलोक और परलोक की जो सन्धि है उसमें रहने वाला जो तीसरा 'संध्यस्थान' है वही स्वप्नस्थान है। स्वप्न में मनुष्य वर्तमान जन्म में, जाग्रतावस्था के भोगे हुए पदार्थों का तो अनुभव कर सकता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि स्वप्न में परलोक में होने वाले सुख-दुःखों का दर्शन या अनुभूति कैसी होती है क्योंकि जिनका इस जन्म में अनुभव नहीं होता या हो नहीं सकता, ऐसी बहुत-सी वस्तुओं, पदार्थों को मनुष्य स्वप्न में देखता और अनुभव करता है। अतः स्वप्न मन की सृजना है। क्योंकि मन त्रिकाल का अधिष्ठाता है।^१ इसलिये वह भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कालों का आकलन करता है। मन त्रिकालदर्शी है। मन के ग्रहण क्षेत्र में तीनों काल हैं। शरीर में ससीम रहते हुए भी वह देश-काल की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है। क्योंकि मन 'दूरगम' है। शरीर वर्तमान के पिंजरे में आबद्ध रहता है। परन्तु अतीत में अनुभव किये गये, भोगे गये पदार्थों का मनुष्य मन द्वारा वर्तमान में स्मरण करता है। ऐसा अनुभव करता है मानों वे भोगे गये सुख वर्तमान में उपस्थित हो। मन न केवल अतीत की अपितु भविष्य की घटनाओं का संदर्शन भी करने में सक्षम है। मन की गति असीम है। पृथिवी, अंतरिक्ष, द्युलोक, भूत, भविष्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो इसकी गति से दूर हो। मन में दोनों धर्म हैं गमन और प्रत्यावर्तन। मन यदि दूर से दूर जा सकता है तो क्षण भर में उसे अपने स्थान पर लौटा, संयमित भी किया जा सकता है। मन की गति अतितीव्र होने के कारण विश्वव्यापी है।

स्वप्न में मन में महान् शक्ति स्फुरित होती है। स्वप्न में न कोई रथ होता है, न अश्व और न मार्ग। किन्तु मन उनकी सृजना कर लेता है। स्वप्न में पुत्रादि की प्राप्ति से होने से हर्ष, आनन्द, मोद और प्रमोद नहीं होते हैं किन्तु वह आनन्द, मोद और प्रमोद

१. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।—यजु0, ३/४/४

की रचना कर लेता है। वहाँ छोटे-छोटे स्रोत सरोवर और नदियाँ नहीं होती परन्तु उसकी भी सृष्टि कर लेता है।^१ अतः मन ही स्वप्न का सृजक है।

मन और सुषुप्ति

सुषुप्त्यावस्था में सम्पूर्ण इन्द्रिय समूह मन में लीन हो जाता है।^२ जाग्रतावस्था में इन्द्रियाँ स्थूल शरीर में पूर्ण रूप से क्रियाशील रहती हैं। परन्तु सुषुप्ति में वे अपने स्रोत मन में लीन हो जाती हैं। जैसे सूर्यास्त के समय, सूर्य की किरणें स्थूल जगत् से परावर्त होकर सूर्य के प्रकाश मण्डल में पूंजीभूत हो जाती हैं और प्रभात वेला में उससे विकीर्ण फैलने लगती हैं उसी प्रकार सुषुप्ति में सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग अपने आश्रय में लीन हो जाता है और जागने पर वह पुनः तत्काल बहिर्मुखी होकर निकल आता है।^३ अतः 'सुषुप्त्यावस्था' वह स्थिति है जब मनुष्य का मन कुछ समय के लिये अस्त या निष्क्रिय हो जाता है। जाग्रतावस्था में पुनः क्रियाशील होता है। सुषुप्ति में बाह्येन्द्रियाँ अपने-अपने सांसारिक भोगों से उपरत हो कर मन में एकीभूत हो जाती हैं। इसलिये 'स्वपिति'—सो रहा है ऐसा कहा जाता है।^४

परन्तु यहाँ पुनः एक प्रश्न उठता है कि यह तो ठीक है कि सुषुप्ति में इन्द्रियाँ तो मन में पूंजीभूत हो जाती हैं परन्तु सूर्य के अस्त होने की भाँति मन भी विलीन होता है या नहीं। पिप्पलाद ऋषि इसका उत्तर देते हुए बताते हैं कि 'सुषुप्ति में मन' तेजस्

१. न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्
पथः सृजते तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः
स्त्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्त्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता।—बृ०उ०, ४/३/१०
२. ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति।—प्रश्नो०, ४/२
३. तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः
पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति।—वही, ४/२
४. यथा गार्ग्य....। तेन तह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादते
नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते।—वही, ४/२

से अभिभूत हो जाता है।^१ तेजस् क्या है? ‘तेजो ह वा उदानः’^२ अर्थात् उदान वायु ही तेजस् है। अतः सुषुप्ति में मन तेजस् अर्थात् उदान वायु से आक्रांत हो जाता है। उदान वायु मन को जीवात्मा के निवास स्थान हृदय में पहुँचाकर मोहित कर देता है। तब जीव मन के द्वारा स्वप्न की घटनाओं को नहीं देखता और सुषुप्ति के अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है। इसलिये सुषुप्ति को आनन्दमय कोश कहते हैं। सुषुप्ति में मन में उद्वेग न होने के कारण मनुष्य को दुःख नहीं सहना पड़ता जिससे इसे आनन्दमय कहा जाता है।

सुषुप्ति में श्रम निवृत्ति

जैसे ‘श्येन’ और ‘सुपर्ण’ पक्षी आकाश में दूर-दूर तक विहरण कर, थक जाने पर, श्रम की निवृत्ति के लिये अपने नीड का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न आवस्थाओं में देहेन्द्रियों के संयोग से होने वाले श्रम की निवृत्ति के लिये सुषुप्ति में सब प्रकार के श्रम से रहित जीव अपनी आत्मा में प्रवेश करता है। सुषुप्ति में न वह स्वप्न देखता है और न ही किसी भोग की इच्छा करता है।^३ सुषुप्ति जाग्रत और स्वप्न का निलय स्थान है। परन्तु प्रश्न उठता है कि सुषुप्ति में यदि जीव आत्मा में प्रविष्ट होता है तो क्या वह मुक्तात्मा की तरह आत्मरूप में स्थिर हो जाता है? नहीं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। क्योंकि सुषुप्त जीव का, अव्याकृत माया के अंशभूत कारणशरीर से सम्बन्ध बना रहता है। सुषुप्ति में वह आत्मा में कारण शरीर के साथ प्रवेश करता है। फलस्वरूप मुक्तात्मा की भाँति स्वरूपस्थ नहीं होता। सुषुप्ति में पक्षी की भाँति जीव की

१. स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति।
—प्रश्नो०, ४/६

२. वही, ३/६

३. तद् यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः
संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय
धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन काम कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति।—बृ०उ०, ४/३/१६

श्रम निवृत्ति होती है।^१ यह अनुभव सिद्ध है। सुषुप्ति में पञ्चमहाभूत और उनकी तन्मात्रायें, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन की मनन शक्ति, बुद्धि, विवेक, अहंकार और उनके विषय, चित्त और उसकी वस्तुएँ ज्योति और उससे सम्बन्धित पदार्थ, प्राण और इनसे धारण किये जाने वाले पदार्थ ऐसे ही विश्राम करते हैं जैसे दिनभर की थकान से क्लान्त पक्षी नीड़ में जा कर विश्राम करते हैं।^२

सुषुप्ति में मन पुरीतत् की ओर जाता है

जब मनुष्य सुषुप्त होता है, तब वह किसी विषय में कुछ नहीं जानता, उस समय हिता नाम की जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्थित हैं, उनके द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह शरीर में व्याप्त होकर शयन करता है।^३ ये बहत्तर हजार नाड़ियाँ पीपल के पत्ते की नसों की भाँति हृदय से पुरीतत् की ओर जाती हैं। मन इन नाड़ियों से होकर पुरीतत् की ओर ही जाता है। जब वह पुरीतत् में निवास ग्रहण कर लेता है तभी सुषुप्ति की उत्पत्ति होती है।^४

प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः

जिस प्रकार बंधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशा में उड़कर विश्राम करने के लिये अन्यत्र स्थान न मिलने पर अपने बन्धन स्थान का ही अवलम्बन करता है,^५ उसी प्रकार 'तन्मनः' अर्थात् अन्नमय मन जाग्रत और स्वप्नावस्था में सुख-दुःखादि रूप भोगों को

१. स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते।—प्रश्नो०, ४/७

२. वही, ४/८

३. अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततम-भिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते।—बृ०उ०, २/१/१६

४. वही, शाङ्करभाष्यार्थ, २/१/१६

५. स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति।—छा०उ०, ६/८/२

भोगते हुए, दिशा—विदिशा में उड़कर कहीं विश्राम प्राप्त न कर अपने बन्धन प्राण का ही आश्रय ग्रहण करता है। अतः 'स्वप्नान्त'—सुषुप्ति में मन प्राणबन्धन वाला है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मन स्वतंत्र नहीं है। खोरी से बंधे हुए पक्षी की भाँति, वह खोरी की लम्बाई से निर्दिष्ट क्षेत्र की सीमित परिधि में ही उड़ सकता है। उसके आगे विचरण करने में असमर्थ है। अतः वह परतन्त्र है। उसकी स्वतन्त्रता बन्धे हुए पक्षी के समान सीमित है।

मनो ह वाव यजमान

निद्रा रूप यज्ञ की पाँच अग्नियाँ पाँच प्राण हैं। सुषुप्ति में ये पाँच प्राण रूपी अग्नियाँ जागती रहती हैं। उर्ध्वश्वास और अधोश्वास ये दोनों अग्निहोत्र दो आहुतियाँ हैं। समान प्राण इनको समभाव में पहुँचाता है। वही इस यज्ञ का ऋत्विक् है। मन यजमान है। उदान वायु ही इस यज्ञ का इष्ट फल है। यह उदान वायु ही इस मन रूपी यजमान को प्रतिदिन ब्रह्मलोक में ले जाता है। जैसे अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने वाले यजमान को उसका अभीष्ट फल उसे अपनी ओर आकर्षित कर कर्म फल भुगताने के लिये, कर्मों के अनुरूप पुण्यलोक में ले जाता है, उसी प्रकार यह उदान वायु मन को प्रतिदिन निद्रा के समय ब्रह्मलोक में ले जाता है। अतः मनरूपी यजमान ब्रह्म तक जाता है।^१

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है कि जब मनुष्य सोता है तब वह सत् से सम्पन्न हो जाता है। वह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इसलिये उसे 'स्वपिति' कहते हैं।^२ क्योंकि वह उस समय अपने को ही प्राप्त हो जाता है। जब मनुष्य स्वप्न देखता है तब

१. मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति। प्रश्नो०, ४/४

२. तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति।—छां० उ०, ८/६/३

सुख-दुःख भोगता है। परन्तु सुषुप्ति में पुण्य से असम्बद्ध तथा पाप से भी असम्बद्ध होता है और हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर लेता है।^१ इसका वह रूप 'अतिछन्दा' (काम, धर्माधर्म तथा अविद्या से रहित) है।^२ यह परम आनन्द है।^३ इस स्थिति में वह मन आदि के संसर्ग से प्राप्त हुए जीवरूप को त्याग कर अपने सद्रूप को (जो कि परमार्थ सत्य है) प्राप्त हो जाता है।

मन का इन्द्रियत्व

मीमांसा-दर्शन में छः इन्द्रियों की कल्पना में मन को भी इन्द्रिय माना गया है।^४ किन्तु वेदान्ती मन को इन्द्रिय नहीं मानते तथा अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि श्रुति में मन को इन्द्रियों से पृथक् माना है तथा मन को इन्द्रियों से अधिक सूक्ष्म माना है।^५ कारण यह है कि मन को इन्द्रिय मानने पर भी इसकी स्थिति अन्य इन्द्रियों से पृथक् तो है ही। वेदान्तियों द्वारा मन को इन्द्रिय न स्वीकार करने पर नैयायिकों का आक्षेप है कि मन को इन्द्रिय माने बिना सुख-दुःखादि का ज्ञान कैसे होगा? इस पर वेदान्तियों का उत्तर है कि प्रमाण चैतन्य तथा प्रमेय चैतन्य इन दोनों का ऐक्य ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।^६

योगवासिष्ठ में कहा गया है कि घनीभूत विकल्पों वाला मन धीरे-धीरे क्रमशः इन्द्रियरूप ग्रहण करता है। विवेकियों की दृष्टि में इन्द्रिय अङ्ग विशेषयुक्त शरीरमात्र है। तात्पर्य यह है कि मन से पृथक् विचार करने पर इन्द्रियों की सत्ता देहावयव से

१. अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णं हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति।—बृ०उ०, ४/३/२२

२. तद्वा अस्यैतदतिछन्दाः—वही, ४/३/२१

३. एष परम आनन्दः—वही, ४/३/३३

४. मनस्तु सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनेन्द्रियत्वेन।—मे०ने०, पृ०—१२

५. इन्द्रियेभ्यः पराः ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।—कठो०, १/२/१०

६. भादृचिन्तामणि के तर्कपाद का अध्ययन, पृ०—१४७।

भिन्न नहीं है।^१ युक्तिदीपिका टीका में मन को बुद्धीन्द्रिय नहीं अपितु कर्मेन्द्रिय भी कहा गया है।^२ मीमांसको (प्रभाकर) के अनुसार बाह्येन्द्रियाँ पाँच हैं और आन्तरिक इन्द्रिय एकमात्र मन है।^३

अद्वैतवेदान्त के मतानुसार सूक्ष्म शरीर के प्राणमय कोश में पञ्चप्राणसहित वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मनोमय कोश में मनः समेत पाँच ज्ञानेन्द्रियों की गणना है। इसमें मनः सहित एकादश इन्द्रिय हैं किन्तु प्राणों को इन्द्रिय नहीं कहा गया है।^४ 'विद्यारण्यमुनि' का कथन है कि हृदयकमल में स्थित मन दसों इन्द्रियों का अध्यक्ष है। यह एक अन्तःकरण है क्योंकि बाह्य विषयों में बाह्य इन्द्रियों के बिना यह स्वतन्त्र नहीं है, केवल आन्तरिक सुख आदि का मन स्वतन्त्ररूप से ग्राहक है।^५ चित्, बुद्धि, मन और अहंकार नाम वाले अन्तःकरण आकाशादि के मिलित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं।^६ इनकी उत्पत्ति में पाँचों अपञ्चीकृत भूतों का योग रहता है।

विशिष्टाद्वैतवेदान्त के मतानुसार मन को ज्ञानेन्द्रिय मात्र कहा गया है, कर्मेन्द्रिय नहीं क्योंकि वह ज्ञान द्वारा कर्म का कारण बनता है। यदि इतने से मन को कर्मेन्द्रिय माना जाए तो सभी ज्ञानेन्द्रियों की कर्मेन्द्रियता माननी होगी क्योंकि सभी में ज्ञान से कर्म हेतुता पायी जाती है।^७ अन्य इन्द्रियों का भी मूल स्थान हृदय है परन्तु अन्य

-
१. मनो घनविकल्पं च गच्छतीन्द्रियतां शनैः।
पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः।।—यो०वा०, ४/४२/२४
 २. मनो न केवलं बुद्धीन्द्रियमपि तु कर्मेन्द्रियमपि।—यु०दी०
 ३. कानि पुनरिन्द्रियाणि? घ्राण—रसन—नयन—त्वक्श्रवणानि
बाह्यानि आन्तरं च मनः।—प्र०प०, पृ०—१४७
 ४. ते प्रकृताः प्राणाः श्रेष्ठं वर्जयित्वावशिष्टा एकादश इन्द्रियणीत्युच्यन्ते...एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च—मुं०उ०, २/१/३
 ५. मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्म—गोलके स्थितम्।
तच्चान्तःकरणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद् विनेन्द्रियैः।।'—पं०द०, २/१२
 ६. एते पुनराकाशादिगत—सात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।—वही, विद्यारण्यमुनि, पृ०—६१—६२
 ७. उभयात्मकमत्र इति तदसत्, तस्य च ज्ञानद्वारेण कर्महेतुत्वात्।
तावता च तथात्वे चक्षुरादावपि प्रसङ्गात्।—न्या०सि०, पृ०—७०

शरीरभागों में भी उनकी कार्यानुसारवृत्ति होती है। अध्यवसाय, अभिमान और चित्तवृत्तियों के अनुसार मन के नाम क्रमशः बुद्धि, अहंकार तथा चित्त होते हैं। इसका पृथक् अस्तित्व नहीं है।^१

द्वैतवेदान्तानुयायी माध्वाचार्य ने मन को इन्द्रिय स्वीकार किया है। उनके अनुसार मुख्य प्राण को छोड़कर मन तथा बुद्धि के सहित बारह इन्द्रियाँ हैं।^२ अणुभाष्य की सन्दर्भानुगत प्रकाशटीका में पुरुषोत्तम गोस्वामी ने मन को अन्तःकरणरूप इन्द्रिय स्थापित किया है—“अन्येषां वृत्तिभेदत्वेनान्तःकरण एव निवेशादेकादशैवेन्द्रियाणि।” अर्थात् बुद्धि, चित्त और अहंकार मनोवृत्तिविशेषरूप होने से मन में ही अन्तर्भूत हैं।^३ शुद्धाद्वैतवेदान्त के अनुसार मन संकल्पविकल्पात्मक होने के साथ उभयात्मक रूप में कार्यकारी होता है।^४ यहाँ इस दर्शन का सांख्य दर्शन के साथ ऐकमत्य है।

दाक्षिणात्य शैवदर्शन में मन की गणना इन्द्रियों से पृथक् की गई है। इस दर्शन में मन को व्यापक माना गया है। जो सांख्यादि के अनुकूल तथा वैष्णव दर्शनों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। न्याय-वैशेषिक में परमाणु मन की व्यवस्था है परन्तु उसका खण्डन कर स्वरूपनिरूपण किया गया है—‘पुरुषों के भीतर संकल्प तथा विकल्प प्रत्यय होते हैं जो व्यापारभेद के कारण न आहंकारिक हैं और न बौद्धिक।’ अहंप्रत्ययरूप व्यापार से अहंकार तथा अध्यवसाय से बुद्धि का प्रत्यय होता है किन्तु दोनों से भिन्न यह प्रत्यय मनोव्यापार से जन्य है।^५ संकल्पवृत्ति इस प्रकार है—‘चक्षु (तथा अन्य इन्द्रियों) द्वारा

-
१. इन्द्रियान्तराणामपि हृत्प्रदेश एव कन्दस्थानम्,
स्थानान्तरेष्वपि यथासंभवं वृत्तिः। न्या०सि० पृ०—७१
 २. द्वादशैवेन्द्रियाण्याहुर्मनोबुद्धी तु द्वादश।...
मुख्यप्राणमृते त एवेन्द्रियाणि।—ब्र०सू० (माध्वभाष्य), २/४/१८
 ३. भारतीय दर्शन बृहत्कोश (भाग-३), पृ०—८७६
 ४. अथ मनः। तच्चोभयात्मकमुभयकार्यकर्तृत्वात्।
तस्य च संकल्पविकल्पात्मकत्वं स्वरूपलक्षणम्।—प्र०२०, पृ०—२१७
 ५. यः संकल्प-विकल्पात्मा प्रत्ययोऽन्तर्गतो नृणाम्।
स नाहंकारिको नापि बौद्धो व्यापारभेदतः।
स तु मानस एवेष्टस्तन्त्रेऽस्मिन् मुक्तिसागरे।—शै०प०, पृ०—११६—१७

आलोचन रूप निर्विकल्पक ज्ञान में लाये हुए अर्थ को बुद्धिविषय बनाने वाला अन्तःकरण मन कहा गया है।^१ मन न हो तो संकल्प के अभाव में घट का आलोचन हो और पट का बुद्धि द्वारा निश्चय होने लगे।^२ उसकी विकल्पवृत्ति का निरूपण इस प्रकार है—एक पिण्ड देखकर गोशब्द के उल्लेख के साथ पुनः वैसे पिण्ड में उसी शब्द का उच्चारण मन से होता है और यह ज्ञान विकल्पप्रत्ययरूप है।^३ तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तुव्यक्ति में संकल्प और अनेक समान वस्तुओं में एकशब्दात्मक प्रत्यय से विकल्पक मन है। नैयायिक और मीमांसकों के समान वेदान्ती मन को इन्द्रिय नहीं मानते। मन के इन्द्रियत्व का निराकरण करने के कारण सुखादि को ये इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की कोटि में रखते हैं।^४

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

शंकराचार्य के अनुसार मन से अतिरिक्त अविद्या और कुछ नहीं है, मन ही भव—बन्धन की हेतुभूता अविद्या है। उसके नष्ट हो जाने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है और उसी के जाग्रत होने पर सब कुछ प्रतीत होने लगता है।^५ जिसमें कोई पदार्थ नहीं होता उस स्वप्न में मन ही अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भोक्ता—भोग्यादि प्रपञ्च की रचना करता है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी और कोई विशेषता नहीं है, अतः यह सब मन का विलास मात्र ही है।^६ सुषुप्ति—काल में मन के लीन हो जाने पर कुछ भी

-
१. चक्षुषालोकिते ह्यर्थे तमर्थं बुद्धिगोचरम्।
विदधातीह यद् विप्रास्तन्मनः परिपठयते।।—शै०प०, पृ०—११६
 २. किं च सास्नादिमत्पिण्डे गोशब्दमनुभूय यत्।
भूयस्तत्सदृशे दृष्टे गोशब्दोच्चारहेतुकम्।
तन्मनः कथ्यते तन्त्रे विकल्पप्रत्ययात्मकम्।।—वही, पृ०—११६
 ३. इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुः श्रोत्रत्वगात्मकानि।
तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादिप्रत्यक्षं मनस् इन्द्रियत्वनिराकरणात्।।—वे०परि०, पृ०—१७७
 ४. न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनो ह्यविद्या भवबन्धनहेतुः।
तस्मिन्निनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते।।—वि०चू०, १७१
 ५. स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम्।।—वही, १७२

नहीं रहता—यह सबको विदित ही है। अतः इस पुरुष (जीव) का यह संसार मन की कल्पनामात्र ही है, वस्तुतः नहीं।^१ जिस प्रकार मेघ वायु के द्वारा आता है और फिर उसी के द्वारा चला जाता है, इसी प्रकार मन से ही बन्धन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की।^२ यह मन ही देहादि सब विषयों में राग की कल्पना करके उसके द्वारा रस्सी से पशु की भाँति पुरुष को बाँधता है और फिर इन विषयवत् विषयों में विरसता उत्पन्न करके इसको बन्धन से मुक्त कर देता है।^३

इसलिये इस जीव के बन्धन और मोक्ष के विधान में मन ही कारण है, रजोगुण से मलिन हुआ यह बन्धन हेतु होता है तथा रज—तम से रहित शुद्धि सात्त्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।^४ विवेक—वैराग्यादि गुणों के उत्कर्ष से शुद्धता को प्राप्त हुआ मन मुक्ति का हेतु होता है, अतः पहले बुद्धिमान् मुमुक्षु के वे (ज्ञान—वैराग्य) दोनों ही दृढ़ होने चाहिये।^५

मन ही सम्पूर्ण स्थूल—सूक्ष्म विषयों को, शरीर, वर्ण, आश्रम, जाति आदि भेदों को तथा गुण, क्रिया, हेतु और फलादि को भोक्ता के लिये नित्य उत्पन्न करता रहता है।^६ इस असङ्ग चिद्रूप आत्मा को मोहित करके तथा देह, इन्द्रिय, प्राणादि गुणों से बाँधकर,

-
१. सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने नैवास्ति किञ्चित्सकलप्रसिद्धेः ।
अतो मनः कल्पित एव पुंसः संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ।। —वि०चू०, १७३
 २. वायुनानीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते ।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ।।—वही, १७४
 ३. देहादिसर्वविषये परिकल्प्य रागं बध्नाति तेन पुरुषं पशुवद्गुणेन ।
वैरस्यमत्र विषयवत्सु विधाय पश्चादेनं विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ।—वही, १७५
 ४. तस्मान्मनः करणमस्य जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने ।
बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणैर्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम् ।।—वही, १७६
 ५. विवेकवैराग्यगुणातिरेकाच्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै ।
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षोस्ताभ्यां दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे ।।—वही, १७७
 ६. मनः प्रसूते विषयानशेषान्स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः ।
शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान्गुणक्रियाहेतुफलानि नित्यम् ।। —वही, १७८

यह मन ही इसको 'मैं, मेरा' भाव से अपने कर्म और उनके फलोपभोग में निरन्तर भटकाता है।^१ अध्यास दोष के कारण ही पुरुष को जन्म-मरण रूपी संसार प्राप्त होता है और यह अध्यास का बन्धन मन के द्वारा ही कल्पित किया हुआ है तथा रज-तमादि दोषयुक्त अविवेकी पुरुष के लिये यह (अध्यास) ही जन्मादि दुःख का मूल कारण है।^२ अतः तत्त्वदर्शी विद्वान् मन को ही अविद्या कहते हैं, जिसके द्वारा वायु से मेघ-मण्डल की भाँति यह सम्पूर्ण विश्व भ्रमाया जा रहा है।^३ उस मन का मुमुक्षु को (जानने वाले को) प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिये, उसके शुद्ध हो जाने पर मुक्ति करामलकवत् हो जाती है।^४ कठोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मतत्त्व इन्द्रिय तथा मन से युक्त होकर ही मनुष्य भोक्ता है।^५ पुण्यापुण्य कर्मों के अनुरूप वह बन्धन को प्राप्त करता है। परन्तु जैसे जुए की दृढ़ता के लिये उसे रस्सी से बांधते हैं वैसे ही मन को अभ्यास से एवं कठोरता से संयमित किया जा सकता है। मन को वश में करने वाला परमपद अर्थात् आत्मपद को प्राप्त करता है।^६ आत्मतत्त्व मनोनिग्रह से प्राप्त होता है।^७ इसलिये सर्वप्रथम मन को ही संयमित करना चाहिये। अन्नशुद्धि से सत्त्वशुद्धि होती है। जो व्यक्ति अधिक भोजन करता है, जो बिल्कुल भोजन नहीं करता उसका मन संयमित नहीं होता।^८

१. असङ्गचिद्रूपममुं विमोह्यदेहेन्द्रियप्राणगुणैर्निबध्य।
अहंमेति भ्रमयत्यजस्त्रं मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु।।-वि०चू०, १८०
२. अध्यासदोषात्पुरुषस्य संसृतिरध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः।
रजस्तमोदोषवतोऽविवेकिनो जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत्।।-वही, १८१
३. अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम्।।-वही, १८२
४. तन्मनः शोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा।
विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते।।-वही, १८३
५. आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।-कठो०, १/३/४
६. यथा युगं वरत्रया नदृयन्ति धरुणाय कम्।
एवा आधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्टतातये।-ऋ०, १०/६०/८
७. मनो धारयेताप्रमतः।-कठो०, २/२/६
८. नात्यशनतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।-गीता, ६/१६

इसके विपरीत युक्त आहार-विहार करने से मन नियंत्रित होता है।^१ क्योंकि जब मन संयमित होता है तो अन्तःकरण शुद्ध होता है। समस्त इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से हटकर मन में निरुद्ध हो जाती हैं। प्रणवरूपी नौका से सतत् संसरणशील जगत् के समस्त भयावह स्रोतों को मानव पार कर लेता है।^२ ध्यान के अभ्यास से जब वह परमज्योति को देखता है^३ तब शुद्ध पवित्र मन से परमात्मतत्त्व प्राप्त हो जाता है।^४ मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ सम्यक् रूप से स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती। वही परमगति है।^५

अतः इन्द्रिय मन और बुद्धि की स्थिर धारणा होने पर ही मनुष्य अप्रमत्त हो जाता है। जब सम्पूर्ण कामनायें पुरुष के हृदय से समूल नष्ट हो जाती हैं तभी वह मरणधर्मा अमर हो जाता है।^६

“यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मृत्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥”^७

अतः मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है।

-
१. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।—गीता, ६/१७
 २. इन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।—श्वे०, ३०, २/८
 ३. ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ।—वही, १/१४
 ४. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।—कठो०, २/१/११
 ५. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।—वही, २/३/१०
 ६. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।—कठो०, २/३/११
 ७. वही, २/३/१४

पञ्चम अध्याय

उपसंहार

पञ्चम-अध्याय उपसंहार

षड्दर्शन में मन का स्वरूप

सभी भारतीय दर्शन में मनस्-तत्त्व का विवेचन प्राप्त होता है। अधिकतर दर्शनों में मन का विवेचन द्रव्य के अन्तर्गत किया गया है। विभिन्न दर्शनों में मन के स्वरूप विवेचन की शैली में समानता प्रतीत होती है। न्याय-दर्शन के आचार्यों के अनुसार मन का अर्थ है—“मन्यते अनेने इति मनः”। जो मनन (Thinking) का साधन, अर्थात् सोचने-समझने का द्वार है, वह मन कहलाता है। मन ही सभी इन्द्रियों का प्रवर्तक है। चक्षु आदि बाह्येन्द्रियाँ जो विषय ग्रहण करती हैं, उसे मन ही आत्मा के पास पहुँचाता है। आभ्यन्तरिण सुख-दुःख आदि का अनुभव साक्षात् मन के द्वारा ही होता है। मन आभ्यन्तर इन्द्रिय का भी कार्य करता है तथा साथ ही साथ बाह्येन्द्रियानुग्राहक का भी। अतः मन समस्त ज्ञान का कारण है।^१ इसी प्रकार वैशेषिक-दर्शन के आचार्यों ने न्याय-दर्शन के समान ही कहा है कि समवाय सम्बन्ध से मनस्त्व जाति जिसमें रहती है उसे मन कहते हैं।^२ न्याय व वैशेषिक दार्शनिकों के मत में मन पंचभूतों से अतिरिक्त (अभौतिक) व स्वतंत्र है।^३

सांख्याचार्यों ने मन को अन्तःकरण के अन्तर्गत माना है। उनके अनुसार बुद्धि-अहंकार-मन ये तीन अन्तःकरण हैं।^४ मन को उन्होंने उभयात्मक इन्द्रिय

१. मनः सर्वेन्द्रियप्रवर्तकम् अन्तरेन्द्रियम् स्वसंयोगेन बाह्येन्द्रियानुग्राहकम् अतएव सर्वोपलब्धि कारणम्।—त०भा०, १६२

२. मनस्त्वयोगान्मनः।—प्र०पा०भा०, पृ०-५६

३. न्या०द०वि०, पृ०-५२

४. अन्तःकरणं त्रिविधं—सां०का०, ३३

माना है।^१ क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों प्रकार की इन्द्रियों के कार्यों में मन अधिष्ठान अपेक्षित है, अतः इसे दोनों प्रकार की इन्द्रिय माना गया है। संकल्प करना मन का असाधारण व्यापार होते हुए इसका स्वरूपनिरूपक धर्म है। योग-दर्शन में 'मन' का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, परन्तु चित्त पद के अन्तर्गत उसका वर्णन किया गया है। चित्तवृत्ति का निरोध ही योग का प्रधान लक्ष्य है।^२ महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त त्रिगुणात्मक है।^३ वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'चित्त' शब्द से अन्तःकरण बुद्धि उपलक्षित होता है।^४ विज्ञानभिक्षु के मतानुसार अन्तःकरण—सामान्य जिसे चित्त कहा जाता है वास्तव में एक ही है, परन्तु वृत्ति-भेद के कारण उसके चार विभाग—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार माने गये हैं।^५ चित्त का किसी विशिष्ट प्रकार से रहना ही चित्तवृत्ति है। योग-दर्शन में चित्त की पाँच वृत्तियाँ मानी गई हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति।^६ इन पाँचों वृत्तियों का निरोध ही योग का प्रधान लक्ष्य है। इसके निरोध से ही निःश्रेयस् की प्राप्ति सम्भव है। इसके अतिरिक्त चित्त की पाँच भूमियाँ अथवा अवस्थाएँ मानी गयी हैं जो कि क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध कही गई हैं।^७ इन भूमियों को प्राप्त करके ही मनुष्य समाधि की अवस्था को प्राप्त कर सकता है। तत्पश्चात् मीमांसा-दर्शन का स्थान आता है। मीमांसा-दर्शन में भी मन को एक इन्द्रिय के रूप में माना गया है। मीमांसकों ने दो प्रकार की इन्द्रियों को माना है—बाह्य एवं आभ्यान्तर। मन को अन्तरिन्द्रिय के रूप में माना है।^८ इसका प्रत्यक्ष असम्भव है।

१. उभयात्मकमत्र मनः, सङ्कल्पमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।—सा०का०, २७

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।—यो०सू०, १/२

३. चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात्त्रिगुणम् ।—यो०सू०, पृ०—६

४. चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति ।—त०वै०, पृ०—३

५. चित्तमन्तःकरणसामान्यमेकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिभेदमात्रेण चतुर्धाऽत्र दर्शने विभागात् ।—यो०वा०, पृ०—१२

६. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।—यो०सू०, १/६

७. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः ।—व्या०भा०, पृ०—१

८. शा०दी०, पृ०—३३

मीमांसकों के अनुसार सुखादि के अपरोक्ष साधनत्वेन मन की कल्पना की जाती है।^१ वह व्यापक होने पर भी शरीरावच्छिन्न होकर इन्द्रिय कहलाता है। अतः शरीर के अन्दर ही अपना कार्य करता है। चक्षु आदि इन्द्रियों के अधीन होकर मन कर्मादि ग्रहण में भी प्रवृत्त हो जाता है तथा लिङ्गादि की सहायता से अनुमानादि ज्ञानों का उत्पादन भी करता है।

वेदान्त-दर्शन का स्थान आस्तिक दर्शनों में अन्तिम है। वेदान्त में भी मन को अन्तःकरण के अन्तर्गत माना गया है। इनके अनुसार अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। इसके विषय क्रमशः संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण हैं। इसमें संकल्पविकल्पात्मक अन्तःकरण की वृत्ति को मन कहा जाता है। अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि कहा जाता है। अभिमानात्मक वृत्ति को अहंकार तथा अन्तःकरण की स्मरणाकार वृत्ति चित्त मानी गई है।^२

षड्दर्शन में मन की सिद्धि

सभी दर्शनों में मनस्तत्त्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से मानी गई है। अन्तरिन्द्रिय होने से इसका बाह्यप्रत्यक्ष असम्भव है। न्यायाचार्यों के अनुसार मन अतीन्द्रिय है। इस कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। न्याय वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने उसकी सिद्धि के लिये अनुमान का प्रयोग करते हुए कहा है—सुखादि का ज्ञान (अनुभव), चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न किसी करण (साधन) से ही किया जाता है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के न रहने पर भी सुखादि का अनुभव होता है। जो वस्तु जिसके बिना उत्पन्न होती है वह उससे भिन्न करण से उत्पन्न होती है।

१. मनस्तु सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनेन्द्रियत्वेनकल्प्यते ।—मा०मे०, पृ०—१३

२. संशयाकारवृत्तिमदन्तःकरणं मनः, निश्चयाकारवृत्तिमदन्तःकरणं बुद्धिः, गर्वाकारवृत्तिमदन्तःकरणमहंकार, स्मरणाकारवृत्तिमदन्तःकरणं चित्तमितिचतुर्विधमित्यर्थः ।—वे०परि०, पृ०—८५

जैसे कुठार के बिना उत्पन्न होने वाली पचन क्रिया कुठार से भिन्न अग्नि रूप करण से साध्य होती है। सुखादि की उपलिब्ध का जो करण है, वही 'मन' है। वह चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न है।^१ शंकर मिश्र के अनुसार आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थों (विषयों) का संनिकर्ष (सान्निध्य) होने पर भी ज्ञानादि रूप गुण जिसके रहने से आत्मा में उत्पन्न होते हैं तथा न रहने पर उत्पन्न नहीं होते यह अर्थात् ज्ञानादिकों का होना न होना जिसके कारण होता है, वह मनरूप द्रव्य की सत्ता में साधक लिङ्ग है।^२ मन द्रव्य की सिद्धि में प्रमाणान्तर देते हुए भाष्यकार प्रशस्तपाद कहते हैं कि आत्मा को श्रोत्र, चक्षु आदि से शब्द आदि का ज्ञान होता है। परन्तु श्रोत्र, चक्षु आदि बाहेन्द्रियों का व्यापार न होने पर भी स्मरण की उत्पत्ति देखी जाती है।^३ उसका जो करण है वही मन है। अन्धे, बधिर, इत्यादि प्राणियों को चक्षु श्रोत्रादि की शक्ति न होने पर भी स्मरण होने के कारण उसमें श्रोत्रादीन्द्रिय करण नहीं हो सकते, अतः जो इस स्मरणात्मक ज्ञान में करण है वही मन है। इसी प्रकार सांख्य-योग दर्शन के आचार्यों ने भी अनुमान प्रमाण के द्वारा मन की सिद्धि की है।

प्राभाकर मीमांसको के मत का उद्धरण करते हुए तर्कपादकार कहते हैं सुखादि आत्मगत विशेष गुण है। नित्य द्रव्य में रहने वाले विशेषगुण द्रव्यान्तर के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। आत्मगत सुखादि की उत्पत्ति में जो द्रव्यान्तर है वही मन है।^४ पार्थसारथि मिश्र इसका खण्डन करते हुए कहते हैं—शरीर भोग का आयतन है तथा शरीर का भोगायतनत्व यही है कि इसके संयोग से सुख दुःखादि की उत्पत्ति होती

१. सुखाद्युपलिब्धयः चक्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमानमाना पचनक्रिया तदतिरिक्तवह्न्यादिकरणसाध्या। यच्च करणं तन्मनः चक्षुराद्यतिरिक्तम्।—त०भा०, पृ०—३७६—७७

२. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।—वै०सू०उ०, ३/२/१

३. श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाहेन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चाव्यन्तःकरणम्।—प्र०पा०भा०, (मनः प्रकरणम्), पृ०—५७

४. अन्ये तु सुखादीनां संयोगाश्रयतया मनः सिद्धिमित्याहुः।—त०पा०, पृ०—१६

है। शरीर के संयोग से ही सुखादि की उत्पत्ति सिद्ध होने से द्रव्यान्तर (मन) का अनुमान नहीं किया जा सकता। मानमेयोदयकार नारायणमिश्र ने सुखादि के अपरोक्ष साधन के रूप में मन की सिद्धि की है।^१ शास्त्रदीपिका में मन के अनुमान को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— “सुखादिसाक्षात्कारः करणसाध्यः जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषसाक्षात्कारवत्।” अर्थात् सुखादि साक्षात्कार कार्य है, इसका कोई करण होना चाहिये। रूप साक्षात्कार चक्षु रूप करण से होता है उसी प्रकार सुखादि साक्षात्कार का करण मन है।^२

इस प्रकार सभी दर्शनों में मन की सिद्धि हेतु पुष्ट प्रमाण दिया गया है। जिससे यह प्रतीत होता है कि मन अन्तरिन्द्रिय है।

मन के गुण

कुछ दर्शनों में मन के गुणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। न्याय-दर्शन में मन के आठ गुणों का विवेचन प्राप्त होता है। जिन आठ गुणों को न्याय-दर्शन ने माना है उनके नाम—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, तथा वेग हैं।^३ इसके अतिरिक्त आचार्य वात्स्यायन ने स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, ऊहा, सुखादि का प्रत्यक्ष तथा इच्छादि को मन के लक्षण कहा है।^४ वैशेषिक-दर्शन में भी न्याय के समान इन्हीं गुणों का वर्णन किया गया है।^५

१. मनस्तु सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनेन्द्रियत्वेनकल्प्यते।—मा०उ०, पृ०—१३

२. शा०दी०, पृ०—३२

३. त०भा०, पृ०—१६०

४. स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि।—वा०भा०, पृ०—३१

५. तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः।—प्र०पा०भा०, (मनःप्रकरणम्), पृ०—५७

સન્દર્ભ ગ્રન્થ-સૂચી

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(क) मूल-ग्रन्थ

- अथर्ववेद : सम्पा० सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, स्वाध्याय-
मण्डल, सूरत, १९५८
- अथर्ववेद (सायणभाष्य) : सम्पा० पाण्डुरंग, पण्डित, निर्णय सागर, मुम्बई,
१९६५-६८
- ऋग्वेद : सम्पा० विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध-
संस्थान, होशियारपुर, १९६२-६६
- ऋग्वेद : त्रिवेदी, पं० रामगोविन्द, इण्डियन प्रेस
(पब्लिकेशन्स), लिमिटेड, प्रयाग, १९५४
- न्यायदर्शन : शास्त्री,स्वामी द्वारिकादास, भारतीय विद्या
(वात्स्यायनभाष्यसहितम्) प्रकाशन, वाराणसी-१, प्र० संस्करण-१९६६
- पातञ्जलयोगदर्शनम् : मिश्र, नारायण, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी,
द्वि० संस्करण-१९८१
- मीमांसाश्लोकवार्तिक : व्याख्याकार-ज्ञा, पं० दुर्गाधर, कामेश्वरसिंह,
(भट्टकुमारिलविरचित) दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, प्रथम
संस्करण-१९७१
- यजुर्वेद : सम्पा० सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, स्वाध्याय-
मण्डल, पारडी, सूरत, १९५६
- यजुर्वेद-संहिता : महर्षि दयानन्द, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट,
दिल्ली-६, १९७३

- वेदान्तसूत्र (शाङ्करभाष्य) : द्विवेदी, विन्ध्येश्वरी प्रसाद, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९७१
- वैशेषिकदर्शनम् : मिश्र, श्रीनारायण, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६६
- सांख्यसूत्रम् : भट्टाचार्य, रामशंकर, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, द्वि० संस्करण—१९७६
- (विज्ञानभिक्षुभाष्यसमेतम्)
- सामवेद : सातवलेकर, पं० श्रीपाद दामोदर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, सूरत, १९६३

(ख) संस्कृत—ग्रन्थ

- अणुभाष्य (ब्रह्मसूत्र) : बल्लभाचार्य, गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीमहा—राजविरचित भाष्यप्रकाशाख्यव्याख्या सहित, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, १९०५
- आत्मज्ञानप्रकाशः : व्याख्याकार—शुक्लः, शंकरप्रसाद, दर्शनविभागस्य, महाराज—संस्कृत—महाविद्यालयः, जयपुरम्, राजस्थानम्, प्र० संस्करण—१९६०
- ईशावास्योपनिषद् : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, पचीसवाँ संस्करण—२०५५ सम्वत्
- (शाङ्करभाष्यसहित)
- ऐतरेयोपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, सोलहवाँ, संस्करण—२०५५ सम्वत्
- कठोपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, चौबीसवाँ संस्करण—२०५४ सम्वत्

- केनोपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) : अनु० त्रिपाठी, यमुनाप्रसाद, मोतीलाल बनारसी-
दास, बंगलो रोड, दिल्ली, १९६४
- चतुर्वेद मीमांसा : शर्मा, डॉ० मुंशीराम 'सोम' युनिवर्सिटी पब्लिकेशन,
बी-१३७, कर्मपुरा, नई दिल्ली, १९६६
- चित्रावली (कारिकावलीसहित
सिद्धान्तमुक्तावली) : शर्मा, श्री चन्द्रधर, चन्द्रनगर देहडी, मधुबनी,
दरभंगा, प्र०स०-१९३६
- छान्दोग्योपनिषद् : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस,
(शाङ्करभाष्यसहित) गोरखपुर, तेरहवाँ संस्करण-२०६५ सम्वत्
- जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणम् : पं० रामदेव, भगवदत्त, संस्कृताध्यापक व
अध्यक्ष अनुसंधान विभाग दयानन्द महाविद्यालय,
लाहौर, १९२१
- तर्क-संग्रह : अन्नभट्टप्रतीतः, व्याख्या-भार्गव, डॉ० दयानन्द,
मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स लिमिटेड,
दिल्ली, प्र० संस्करण-१९७१
- तत्त्ववैशारदी (पातञ्जलयोगदर्शन) : मिश्र, वाचस्पति, भारतीय विद्या प्रकाशन,
वाराणसी, प्र० संस्करण-१९७१
- तैत्तिरीयोपनिषद् : प्रकाशक-गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस,
(शाङ्करभाष्यसहित) गोरखपुर, सत्रहवाँ संस्करण-२०५६ सम्वत्
- तैत्तिरीयब्राह्मणम् : आपटे, महादेव चिमणाजी, आनन्दाश्रममुद्रणालये,
(सायणभाष्यसमेतम्) पुणे, द्वि० संस्करण-१९३८
- न्यायसिद्धाञ्जन : वेदान्तदेशिक, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी, १९६६

- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली : टीकाकार—साधु, पं० स्वामिगोविन्दसिंह, चौखम्बा
(आर्यभाषाटीकासहित) : सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी—२२ १००२, द्वि०
संस्करण—१९८४
- पञ्चदशी (विद्यारण्यमुनिकृत) : टीकाकार—रामकृष्ण, निर्णयसागर, मुम्बई, १९४६
- पातञ्जल योग—दर्शन : आरण्य, हरिहरानन्द, सम्पा० मिश्र, भागीरथ,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, १९३८
- प्रकरणपञ्चिका (प्रभाकरमीमांसा) : मिश्र, शालिकनाथ, सम्पा० शास्त्री, ए० सुब्रह्मण्य,
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६१ ई०
- प्रश्नोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर,
पन्द्रहवाँ संस्करण—२०५० सम्वत्
- प्रशस्तपाद—भाष्य : शास्त्री, डॉ० श्रीनिवास, इण्डो—विज़न प्राईवेट
लिमिटेड, II ए—२२० नेहरूनगर, गाजियाबाद,
१९८४ ई०
- प्रस्थानरत्नाकर : गोस्वामी, पुरुषोत्तम, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी,
१९०६ ई०
- बृहदारण्यकोपनिषद् : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस,
(शाङ्करभाष्यसहित) : गोरखपुर, बारहवाँ संस्करण—२०६५ सम्वत्
- ब्रह्मसूत्र (माध्वभाष्य) : आनन्दतीर्थ, पूर्णप्रज्ञ रिसर्च संस्थान, बंगाल, १९६७
- ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्यम्) : आचार्य, नारायण राम, सत्यभामाबाई पाण्डुरङ्ग,
निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, १९४८
- भावागणेशवृत्ति : भावागणेश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, विद्याविलास
(पातञ्जलयोगदर्शनम्) : प्रेस, वाराणसी, १९३०

- भास्वती (साङ्गयोगदर्शनम्) : आरण्य, हरिहरानन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३८
- भोजदेववृत्ति(पातञ्जलयोगदर्शनम्) : भोजदेव, मदनलाल लम्बीनिवास चंडक, अजमेर, द्वि० संस्करण—१९६१
- मणिप्रभा (पातञ्जलयोगसूत्रम्) : रामानन्दयति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्या विलास प्रेस; वाराणसी, १९३०
- माण्डूक्योपनिषद् (शाङ्करभाष्य) : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, सत्रहवाँ संस्करण—२०५५ सम्वत्
- मानमेयोदय : भट्ट, नारायण, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, १९३३
- मुण्डकोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, पन्द्रहवाँ संस्करण—२०५१ सम्वत्
- मैत्रायणी—संहिता : सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, स्वाध्याय मण्डल, भारतमुद्रणालय, औंधनगर, मुम्बई सम्वत्—१९६८
- युक्तिदीपिका : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७
- योगवार्तिक (पातञ्जलयोगदर्शनम्) : विज्ञानभिक्षु, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्र० संस्करण— १९७१
- योगवासिष्ठ : शास्त्री, पं० श्रीकृष्णपन्त, अच्युग्रन्थमाला—कार्यालयः, काशी, सम्वत् २००६
- योगसुधाकरो नाम योगसूत्रवृत्तिः : सरस्वती, सदाशिवेन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, १९३०
- योगसूत्रवृत्ति (पातञ्जलयोगसूत्राणि) : भट्ट, नागोजि, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बुम्बई, द्वि० संस्करण—१९१७

- वेदान्तपरिभाषा : श्रीमद् धर्मराजाध्वरीन्द्र, 'श्रीवेङ्कटेश्वर' स्टीम्-मुद्रणयन्त्रालये, मुम्बय्यां, सम्वत्-१९६८
- वेदान्तसार : सदानन्दयोगीन्द्र, विवृत्तिकार-त्रिपाठी, कृष्णकान्त, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, १९६६
- वेदान्तसार : शर्मा, प्रो० राममूर्ति, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहरनगर, दिल्ली, तृ० संस्करण १९८६
- व्यासभाष्य (पातञ्जलयोगदर्शनम्) : देव, व्यास, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्र० संस्करण-१९७१
- शतपथ-ब्राह्मणम् (भाग १-३) : उपाध्याय, गंगाप्रसाद, प्राचीनवैज्ञानिकाध्ययन-अनुसंधान-संस्थानम्, नई दिल्ली, १९६७
- श्वेताश्वतरोपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) : गोवन्दभवन कार्यालय, गीतप्रेस, गोरखपुर, पन्द्रहवाँ संस्करण-२०५५ सम्वत्
- सांख्यकारिका (गौडपादभाष्य) : सम्पादक तथा अनुवादक-शास्त्री, जगन्नाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७४
- शैव परिभाषा : आचार्य, शिवाग्रयोगीन्द्रज्ञानशिव, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १९५०
- श्रीभाष्य (ब्रह्मसूत्र) : श्रीरामानुजाचार्य, सम्पा० वडुवूर श्री रङ्गनाथाचार्य, शिरोमणि विरचित हिन्दी व्याख्या सहित, श्री वैष्णव प्रेस दारागंज, प्रयाग, १९७६

(ग) हिन्दी-ग्रन्थ

- अथर्ववेद-संहिता (सायणभाष्य) : सम्पा० शर्मा, पं० रामचन्द्र, सनातनधर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद, सम्वत्-१९८६

- आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष : सिंह, डॉ० मधुरिमा; लोकभारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१, तृ० संस्करण-१९६७
- आत्म-विद्या : श्रीयुत, पं० माधवराव, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, तृ० संस्करण-१९५१
- आत्म-विज्ञान : परमहंस, डॉ० योगेश्वरानन्द, योग निकेतन ट्रस्ट, ३०-ए, पंजाबी बाग, दिल्ली, सप्त० संस्करण-१९६७
- उपनिषद्-१०८ (साधना-खण्ड) : शर्मा, पं० श्रीराम, संस्कृत-संस्थान, बरेली, द्वि० संस्करण-१९६४
- उपनिषद्-वाङ्मय विविध आयाम : वैदिक, डॉ० वेदवती, नाग प्रकाशक, ११ ए०यू०ए०, जवाहर नगर, दिल्ली-१०००७, प्र० संस्करण-१९६७
- केनोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) : गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टारहवाँ संस्करण, २०५० सम्वत्
- कला और संस्कृति : अग्रवाल, डॉ० वसुदेवशरण, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५१
- तर्कभाषा : व्याख्याकार-मुसलगाँवकर, डॉ० गजाननशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, तृ० संस्करण-१९६५
- न्यायदर्शन : सम्पा० शर्मा, आचार्य श्रीराम, संस्कृत संस्थान, बरेली, द्वि० संस्करण-१९६७
- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली : शास्त्री, डॉ० धर्मेन्द्रनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलारोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७, तृ० संस्करण-१९८५
- पातञ्जल-योदर्शनम् : शास्त्री, आचार्य उदयवीर, गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-६, १९६१

- ‘पातञ्जल योगसूत्र’ एक : गुप्ता, डॉ० पवन कुमारी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स,
समालोचनात्मक अध्ययन ५/१८ ए, विजयनगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००६,
प्र० संस्करण-१९७६
- भाट्टचिन्तामणि के तर्कपाद : वर्मा, डॉ० शारदा, १६/ए, रामनगर, लोनी रोड़,
का अध्ययन शहदरा, दिल्ली-३२, प्र० संस्करण-१९८७
- भारतीय चिन्तन का विज्ञान : डॉ० हरगोविन्द, अम्बर ट्रेडर्स, लखनऊ, १९८७
- भारतीय-दर्शन (भाग-१) : डॉ० राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी
गेट, दिल्ली, १९६८
- भारतीय दर्शन का इतिहास : गुप्त, एस०एन०दास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ
(भाग-१-२) अकादमी, जयपुर-४, १९८८
- भारतीय दर्शन की रूपरेखा : उपाध्याय, आचार्य बलदेव, चौखम्बा ओरियन्टलिया,
वाराणसी, १९७६
- भारतीय दर्शन की रूपरेखा : हिरियन्ना, एम०, अनुवादक-भट्ट, डॉ० गोवर्धन,
गुप्त, श्रीमती मंजू चौधरी, श्री सुखवीर, राजकमल
प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली-७,
प्र० संस्करण-१९६५
- भारतीय दर्शन की रूपरेखा : सिन्हा, प्रो० हरेन्द्र प्रसाद, मोतीलाल बनारसीदास,
बंगलो रोड़, दिल्ली, १९७१
- भारतीय दर्शन परिचय : झा, प्रो० हरिमोहन, पुस्तक भण्डार, पटना, १९४०
(न्याय-दर्शन)
- ‘भारतीय न्याय-शास्त्र’ : अवस्थी, डॉ० ब्रह्ममित्र, इन्दु प्रकाशन, ८/३
एक अध्ययन स्वरूपनगर, दिल्ली-७, १९६७

- योगसारसंग्रह : गुप्ता, डॉ० पवनकुमारी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स,
जवाहर नगर, दिल्ली-७, प्र० संस्करण-१९८१
- वेदान्त-विमर्श : डॉ० अभिमन्यु, परिमल पब्लिकेशन, २७/२८,
शक्तिनगर, दिल्ली-११०००, १९९१
- वेद-विज्ञान-वीथिका : भार्गव, डॉ० दयानन्द, अक्षरम् ४६२-सैक्टर १४,
सोनीपत, प्र० संस्करण-१९९६
- वैदिक साहित्य और संस्कृति : शर्मा, डॉ० मुंशीराम, जैन, डॉ० कैलाश चन्द्र,
युनिवर्सिटी पब्लिकेशन बी-१३७ कर्मपुरा, नई
दिल्ली-११००१५, १९९८
- वैशेषिकसूत्रोपस्कार : व्याख्याकार-शास्त्री, आचार्य ढुण्डिराज, सम्पा०
मिश्र, श्री नारायण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज,
वाराणसी, १९६६
- सांख्यतत्त्वकौमुदी : मिश्र, वाचस्पति, व्याख्याकार-मिश्र, डॉ०
आद्याप्रसाद, सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाउस,
इलाहाबाद, द्वि० संस्करण-१९६२
- संस्कृत वाङ्मय का बृहद्
इतिहास (नवम-खण्ड) : उपाध्याय, आचार्य बलदेव, उत्तर प्रदेश संस्कृत
संस्थान, लखनऊ, १९६६
- हिन्दी ऋग्वेद : त्रिवेदी, पं० रामगोविन्द, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन),
लिमिटेड, प्रयाग, १९५४

(घ) आङ्ग्लभाषा-ग्रन्थ

- A concordance to the principal : Jacob, colonel G. Motilal Banarsidas, Delhi, 1971
upanishads and Bhagwadgita

- History of sanskrit literature : Keith. A.B., London, 1920
- Humanistic trends in some
principal upanishads : Kar, Namita, Motilal Banarsidas, Delh, 1980
- Indian philosophy (vol, I) : Radha Krishnan, S., Rajpal & son's Kashmiri
gate, Delhi, 1998
- Philosophy of the vedanta and
the vedantasara : Jacob, G.A., Calcutta, 1957
- The message of the upanishads : Swami, Ranganathananda, Bhartiya vidya
Bhawan, Bombay, 1971
- The Philosophy of the upanishads : Chakravarty, S.C., Kashi Hindu university,
varanasi, 1964
- The Religion and Philosophy of the
veda upanishads : Kith, A.B., Harvard orintel Press, London, 1925

(ङ) कोश—ग्रन्थ

- उपनिषदुद्धार—कोषः : भीमदेवः हंसराजः, होशिआरपुरम्, विश्वेश्वरानन्द—
संस्थानम् पंजाब विश्वविद्यालयः, २०२६ वि०
- भारतीय दर्शन बृहत्कोश(भाग—३) : अवस्थी, बच्चूलाल 'ज्ञान', शरदा पब्लिशिंग हाउस
४०, आनन्द नगर, इन्द्रलोक, दिल्ली—११००३५,
२००४
- वाचस्पत्यम् : भट्टाचार्य, तारानाथ, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,
वाराणसी, १९६२
- वैदिक—कोश : सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति, बनारस हिन्दू
विश्वविद्यालय, बनारस, १९६३

- वैदिक कोश : शास्त्री, राजवीर, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट,
दिल्ली, १९७५
- वैदिक पदानुक्रम-कोश : विश्वबन्धु विश्वेश्वरानन्द-शोध-संस्थान, होशियारपुर,
१९३६-६५
- संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश : आप्टे, वामन शिवराम, मोतीलाल बनारसीदास,
पब्लिकेशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, १९६६
- शब्द कल्पद्रुम : देव, राधाकान्त, सम्पा० वसु, हरिचरण, पाथुरिमा
घाट स्ट्रीट, कलकत्ता, १९०६-१३

(च) शोध-पत्र

- द्वितीय विश्व वेदविज्ञान सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित शोधपत्रसंग्रह, बनारस
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, २००७,
- चतुश्चत्वारिंशत्तमअखिलभारतीयप्राच्यविद्या सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित
शोधपत्रसंग्रह, कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा), २००८